ISSN NUMBER : 2455-9717
RNI NUMBER :- MPHIN/2016/67929

शिवना साहित्यिकी

वर्ष : 3, अंक : 10
जुलाई-सितम्बर 2018
मूल्य 50 रुपये

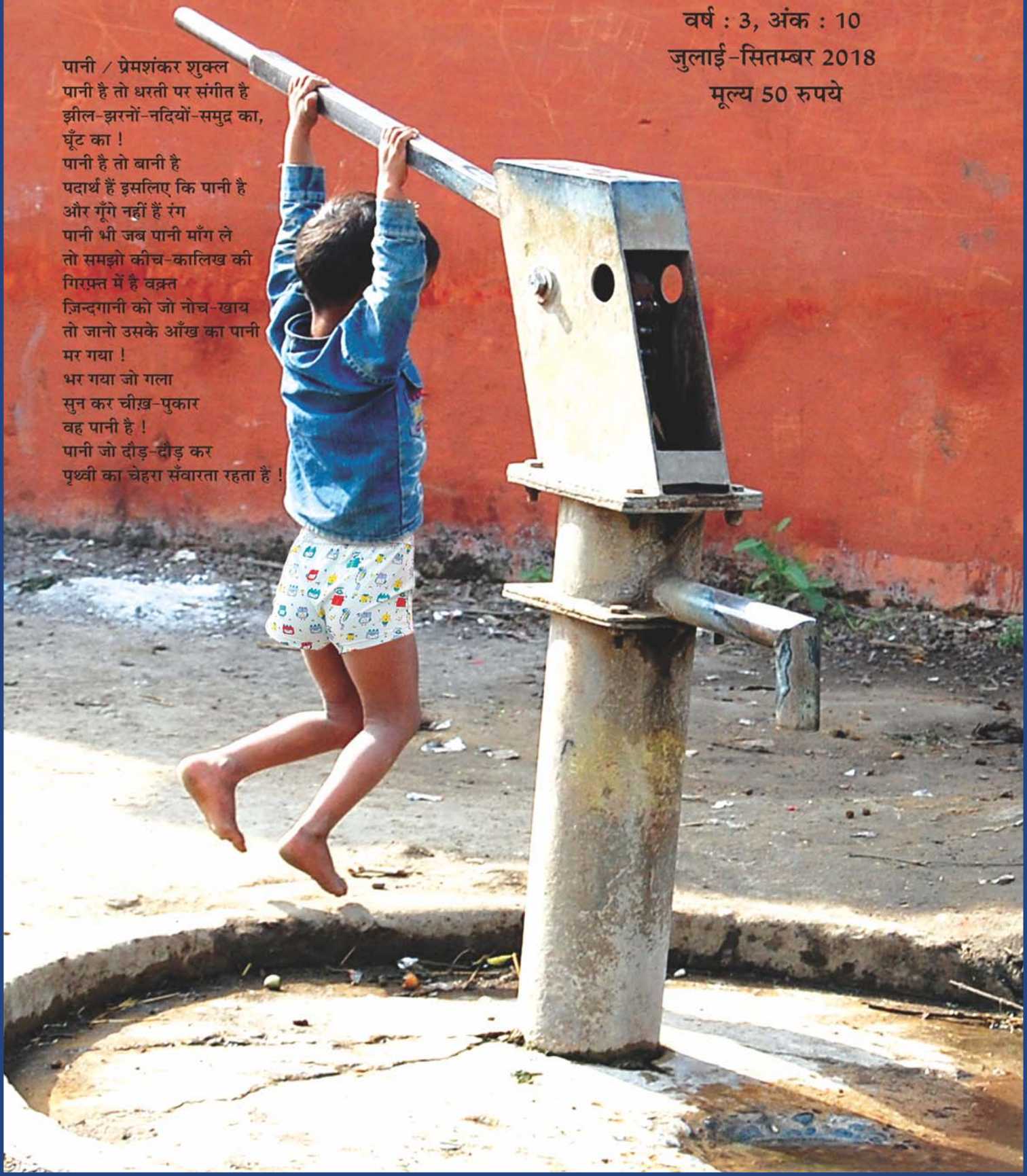

पानी / प्रेमशंकर शुक्ल
पानी है तो धरती पर संगीत है
झील-झरनों-नदियों-समुद्र का,
घूँट का !
पानी है तो बानी है
पदार्थ हैं इसलिए कि पानी है
और गूँगे नहीं हैं रंग
पानी भी जब पानी माँग ले
तो समझो कीच-कालिख की
गिरफ़्त में है वक़्त
ज़िन्दगानी को जो नोच-खाय
तो जानो उसके आँख का पानी
मर गया !
भर गया जो गला
सुन कर चीख़-पुकार
वह पानी है !
पानी जो दौड़-दौड़ कर
पृथ्वी का चेहरा सँवारता रहता है !

शिवना प्रकाशन - नई पुस्तकें

विमर्श - नक़्क़ाशीदार केबिनेट
संपादक : पंकज सुबीर

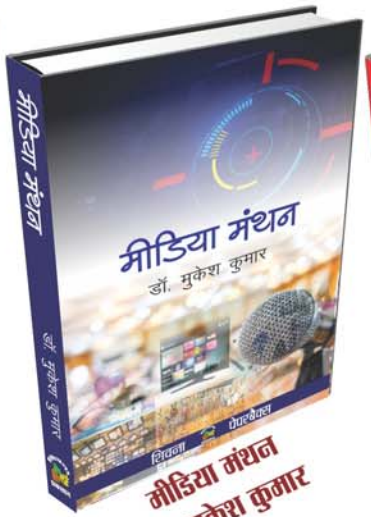

मीडिया मंथन
डॉ. मुकेश कुमार

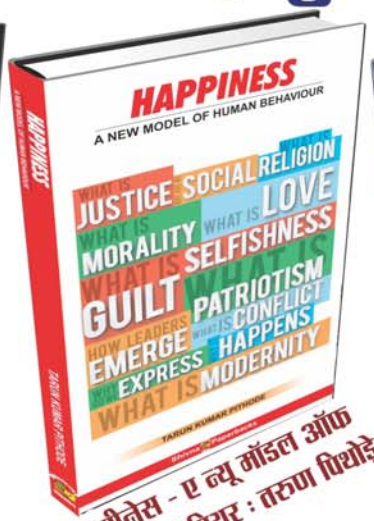

हैपीनेस - ए न्यू मॉडल ऑफ ह्यूमन बिहेवियर : तरुण पिथोड़े

दृष्टिकोण
डॉ. प्रीति समकित सुराना

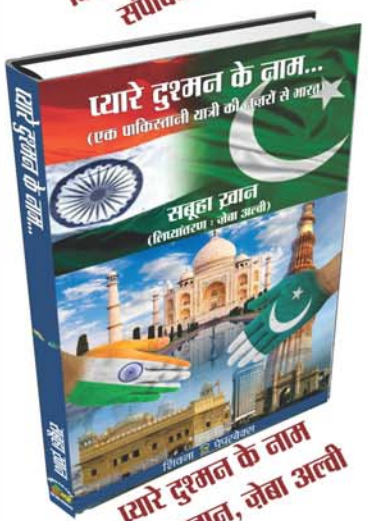

प्यारे दुश्मन के नाम
सबूहा ख़ान, ज़ेबा अली

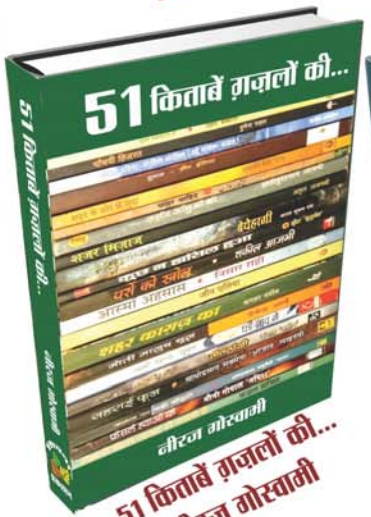

51 किताबें ग़ज़लों की...
नीरज गोस्वामी

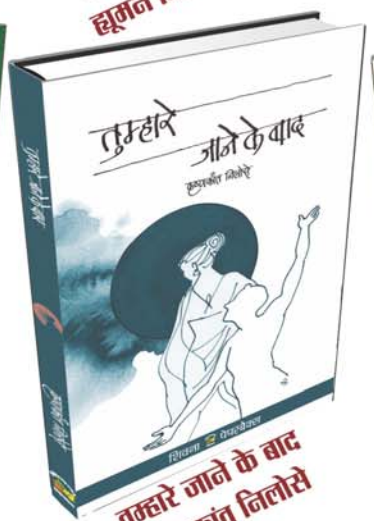

तुम्हारे जाने के बाद
कृष्णकांत निलोसे

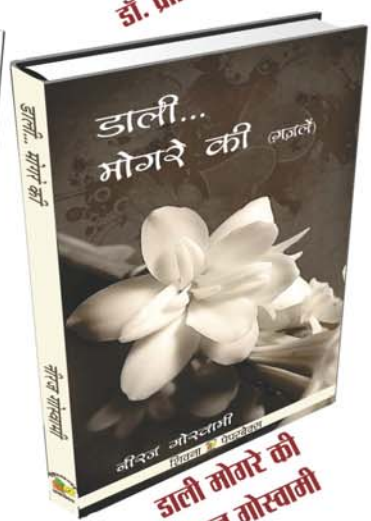

डाली मोगरे की
नीरज गोस्वामी

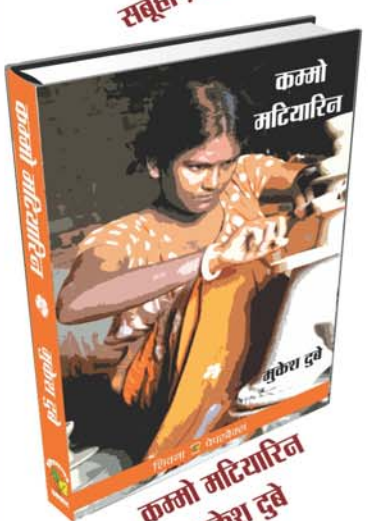

कम्मो मटियारिन
मुकेश दुबे

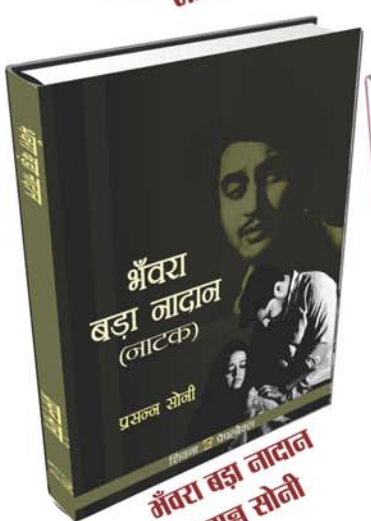

भँवरा बड़ा नादान
प्रसन्न सोनी

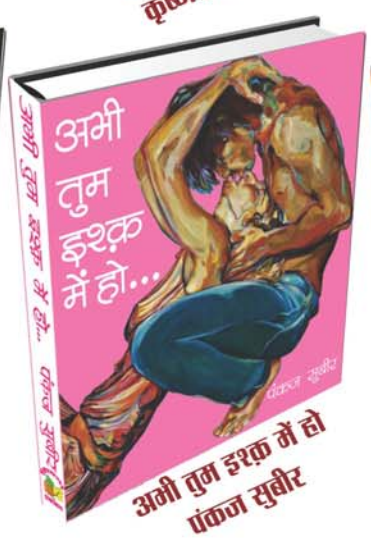

अभी तुम इश्क़ में हो
पंकज सुबीर

पार्थ! तुम्हें जीना होगा (पेपरबैक)
ज्योति जैन

शिवना प्रकाशन, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट
कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने
सीहोर, मध्य प्रदेश 466001
फोन : 07562-405545, 07562-695918
मोबाइल : +91-9806162184 (शहरयार)
ईमेल : shivna.prakashan@gmail.com
http://shivnaprakashan.blogspot.in
https://www.facebook.com/shivna.prakashan

शिवना प्रकाशन की पुस्तकें सभी प्रमुख ऑनलाइन शॉपिंग स्टोर्स पर

amazon http://www.amazon.in
flipkart.com http://www.flipkart.com
paytm https://www.paytm.com
ebay http://www.ebay.in

दिल्ली में पुस्तकें प्राप्त करें : हिन्दी बुक सेंटर, 4/5 आसफ अली रोड
फोन : 011-23286757 http://www.hindibook.com

संरक्षक एवं सलाहकार संपादक
सुधा ओम ढींगरा
●
प्रबंध संपादक
नीरज गोस्वामी
●
संपादक
पंकज सुबीर
●
कार्यकारी संपादक
शहरयार
●
सह संपादक
पारुल सिंह
●
छायाकार
राजेन्द्र शर्मा
●
डिज़ायनिंग
सनी गोस्वामी
●

संपादकीय एवं व्यवस्थापकीय कार्यालय
पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6
सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट
बस स्टैंड के सामने, सीहोर, म.प्र. 466001
दूरभाष : 07562405545, 07562695918
मोबाइल : 09806162184 (शहरयार)
ईमेल : shivnasahityiki@gmail.com
ऑनलाइन 'शिवना प्रकाशन'
http://shivnaprakashan.blogspot.in
फेसबुक पर 'शिवना प्रकाशन'
https://facebook.com/shivna prakashan
●
एक प्रति : 50 रुपये,
(विदेशों हेतु ५ डॉलर $5)
सदस्यता शुल्क
200 रुपये (एक वर्ष), 400 रुपये (दो वर्ष)
1000 रुपये (पाँच वर्ष), 3000 रुपये (आजीवन)
बैंक खाते का विवरण :
Name: Shivna Sahityiki
Bank Name: Bank Of Baroda
Branch: Sehore (M.P.)
Account Number: 30010200000313
IFSC Code: BARB0SEHORE

शिवना साहित्यिकी
वर्ष : 3, अंक : 10
त्रैमासिक : जुलाई-सितम्बर 2018
RNI NUMBER :- MPHIN/2016/67929
ISSN : 2455-9717

आवरण कविता
प्रेम शंकर शुक्ल

आवरण चित्र
राजेन्द्र शर्मा

इस अंक में

कुछ यूँ...
आवरण कविता
पानी / प्रेमशंकर शुक्ल
संपादकीय / शहरयार / 4
व्यंग्य चित्र / काजल कुमार / 5
विशेष पुस्तक
दो लोग / गुलज़ार
समीक्षक : पंकज सुबीर / 6
पीढ़ियाँ आमने-सामने
फुगाटी का जूता / मनीष वैद्य
समीक्षक : रमेश उपाध्याय / 13
विमर्श
दस प्रतिनिधि कहानियाँ / सुधा ओम ढींगरा
विमर्श : डॉ. सुशील सिद्धार्थ / 15
पेपर से पर्दे तक...
सिनेमा एक कला और तकनीक
कृष्णकांत पण्ड्या / 19
जो पिछले दिनों पढ़ा...
ठगलाइफ़ / प्रितपाल कौर
समीक्षक : सुधा ओम ढींगरा / 23
शोध-आलेख
शब्द पखेरू / नासिरा शर्मा
शोध : शगुफ्ता यास्मीन / 24
नैनसी का धूड़ा / स्वयं प्रकाश
शोध : श्वेता बर्नवाल / 39
नई पुस्तक
ऑफ़ द स्क्रीन / ब्रजेश राजपूत / 28
पुस्तक चर्चा
शब्द, शुद्ध उच्चारण और पदभार / ज़हीर क़ुरैशी / डॉ. आज़म / 18
आचमन, प्रेम जल से / प्रतिमा अखिलेश / ई. अर्चना नायडू / 26
पेड़ों पर हैं मछलियाँ / अमरेंद्र मिश्र / प्रतिभा चौहान / 36
एक थका हुआ सच / मंजू महिमा / अतिया दाऊद / 40
समीक्षा
अभी तुम इश्क़ में हो / प्रो. डॉ. मुहम्मद नौमान ख़ाँ / पंकज सुबीर / 27
स्वप्नपाश / मीरा गोयल / मनीषा कुलश्रेष्ठ / 29
रेखाएँ बोलती हैं / राकेश कुमार / गीताश्री / 30
पागलखाना / ब्रजेश राजपूत / डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी / 33
मोगरी / डॉ. रेवन्त दान बारहठ / मुरारी गुप्ता / 34
उच्च शिक्षा का अंडरवर्ल्ड / प्रकाश कांत / जवाहर चौधरी / 35
मैं शबाना / फारूक़ आफरीदी / यूसुफ़ रईस / 37

संपादन, प्रकाशन एवं संचालन पूर्णत: अवैतनिक, अव्यवसायिक। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री लेखकों के निजी विचार हैं। संपादक तथा प्रकाशक का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है। पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचारों का पूर्ण उत्तरदायित्व लेखक पर होगा। पत्रिका जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्टूबर माह में प्रकाशित होगी। समस्त विवादों का न्याय क्षेत्र सीहोर (मध्यप्रदेश) रहेगा।

संपादकीय

उसको कैसे मिला....?

शहरयार

shaharyarcj@gmail.com
+91-9806162184

कई बार हमको पता ही नहीं होता है कि हम अंजाने में ही अपने ही समय का, समाज का कितना अहित कर रहे हैं। जैसे इन दिनों हिन्दी के सम्मान और पुरस्कारों को लेकर हो रहा है। जैसे ही कोई सम्मान या पुरस्कार घोषित होता है, सम्मानित / पुरस्कृत को बधाई देना तो बहुत दूर, बहस इस बात पर शुरू हो जाती है कि इसको कैसे मिला। सम्मान / पुरस्कार सब एक तरफ़ रखा रह जाता है और बस इस बात पर ही लट्ठम-लट्ठा होने लगती है कि इसको मिला कैसे ? जाने कहाँ-कहाँ से, जाने क्या-क्या प्रसंग निकाले जाते हैं, संदर्भ तलाशे जाते हैं और सोशल मीडिया के अराजक और असंपादित प्लेटफार्म पर प्रस्तुत किए जाते हैं। इस हद तक कि पुरस्कृत / सम्मानित होने वाले का मन अंदर से कसैला होने लगता है, वह सोचने लग जाता है कि मैं सम्मानित हुआ हूँ या अपमानित? यह जो प्रवृत्ति है यह किसी लेखक विशेष को भले ही नुकसान पहुँचाए या नहीं पहुँचाए, मगर सच यह है कि इससे साहित्य के समय और समाज का बहुत नुकसान हो रहा है। यह बात सोलह आना सच है कि पुरस्कारों और सम्मानों से किसी लेखक के लेखन पर कोई असर नहीं पड़ता। यदि कोई कमज़ोर लेखक नोबल पुरस्कार भी पा जाए, तो भी उससे उसका लेखन कोई बहुत महान् नहीं हो जाने वाला है, और किसी को यदि उम्र भर कोई पुरस्कार / सम्मान नहीं मिले तो इससे उसका लेखन छोटा या बड़ा नहीं होने वाला। मगर यह भी सच है कि कला की हर विधा जब प्रशंसित होती है, तो उसे कार्य करने के लिए अतिरिक्त ऊर्जा मिलती है। कला की हर विधा अधिकांश मामलों में कलाकार बस मान-सम्मान के लिए ही अपने लिए चुनता है। आर्थिक पक्ष अधिकांश मामलों में कलाकार के लिए उतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता है। कलाकार अपने आप को चार्ज कर लेता है इन सबसे। सम्मान या पुरस्कार बस हौसला बढ़ाने के लिए होते हैं। यह लेखन के लिए नहीं होते, लेखक के लिए होते हैं। इनसे लेखन पर कोई असर नहीं पड़ता, लेखक पर पड़ता है। और यह असर सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों ही प्रकार से पड़ता है। यदि लेखक इनके बोझ को सँभाल नहीं पाता है, तो इनकी तासीर उसके लिए विपरीत प्रभाव वाली भी हो जाती है। यह दो प्रकार से नुकसान करता है, या तो ऊँचा हो जाने की भावना पैदा कर देता है या लेखक को संतोषी जीव बना देता है। दोनों ही नुकसान बहुत क्षति पहुँचाते हैं। इसलिए यह सोचिए कि जिसे सम्मान मिल रहा है, अब उसके सामने एक बड़ी चुनौती अपनी निरंतरता को क़ायम रखने की आ रही है। अब सारी नज़रें उस पर ही होनी हैं कि भई उसे तो यह सम्मान मिल चुका है अब तो उसे और बेहतर रचना देनी होगी।

सम्मानों और पुरस्कारों पर राजनीति और भेदभाव होते आए हैं और होते रहेंगे, लेकिन उसके कारण यदि पूरे समय और समाज को ही कटघरे में खड़ा कर दिया जाएगा, तो कहीं न कहीं यह ज़्यादती होगी। यह एक निरंतर क्रम में होने वाली प्रक्रिया है, यदि किसी का नंबर आज आया है, तो आपका भी कल आएगा। यदि आप आज किसी और को सम्मान या पुरस्कार मिलने पर विलाप कर रहे हैं, तो कल आपके समय भी यही होगा। व्यवहार एक शब्द है जो भारतीय शादियों में उपयोग किया जाता है। यहाँ इसका अर्थ होता है कि आपने किसी की शादी में या घर में कोई सुखद प्रसंग आने पर क्या उपहार दिया? यहाँ पर उपहार को ही आम बोलचाल की भाषा में व्यवहार कहा जाता है। मालवा अंचल के व्यवसायी परिवारों में तो इस हेतु बाक़ायदा खाता-बही बनाई जाती है। और यहाँ तक भी क़िस्से सुने गए हैं कि यदि किसी ने किसी के यहाँ सौ रुपये का व्यवहार किया था और दूसरे ने पचास ही लौटाया, तो पहला उसे टोक देता था कि भाई आपने हमारे यहाँ पचास रुपये कम व्यवहार किया, हमने आपके यहाँ सौ रुपये का व्यवहार किया था। मज़े की बात यह है कि एकाध क़िस्सा तो ऐसा भी है कि बाक़ायदा मुनीम को लेनदारी की पचास रुपये की पर्ची भेजी गई, व्यवहार का बकाया वसूलने के लिए। कहने का मतलब यह है कि जो कुछ आज आप कर रहे हैं वही तो आपके पास लौट कर आएगा। यदि आज आप दूसरे के सम्मानित होने पर प्रसन्न होते हैं, तो यही व्यवहार आपके पास कल लौट कर आएगा। कल जब आपका अवसर आएगा तो यही सब आपको मिलेगा। आपने कभी सोचा है कि पुरस्कार या सम्मान घोषित होते ही आप जो प्रत्यक्ष और अधिकांश अप्रत्यक्ष रूप से छीछालेदार का खेल शुरू कर देते हैं, उससे आयोजक या संयोजक पर क्या असर पड़ता होगा ? वह कोई अपनी बेटी या बेटे की शादी तो कर नहीं रहा है। यदि उसका कोई कार्य बार-बार इस प्रकार संदेह के घेरे में खड़ा किया जाएगा, तो आज नहीं तो कल उसके मन में भी यह बात तो आएगी कि हटाओ भी इस सब को। ठीक है, दस-बीस प्रतिशत मामलों में गड़बड़ होती है, मगर गड़बड़ कहाँ नहीं है ? वह तो हमारे समय और समाज के हर क्षेत्र, हर विधा में है, मगर उसके कारण क्या हम उसको भी शक़ के दायरे में ले आएँगे जो बाकी के अस्सी प्रतिशत में आता है, तथा जो ठीक है। कहीं यह नुकसान हम अपने आप का ही तो नहीं कर रहे हैं। सही समय है कि हम इस पर सोचें और निर्णय लें.....।

आपका ही

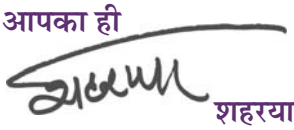

शहरयार

व्यंग्य-चित्र

काजल कुमार

kajalkumar@comic.com

विशेष पुस्तक

दो लोग

लेखक : गुलज़ार
समीक्षक : पंकज सुबीर
प्रकाशक : हार्पर हिन्दी

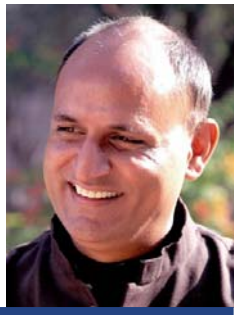

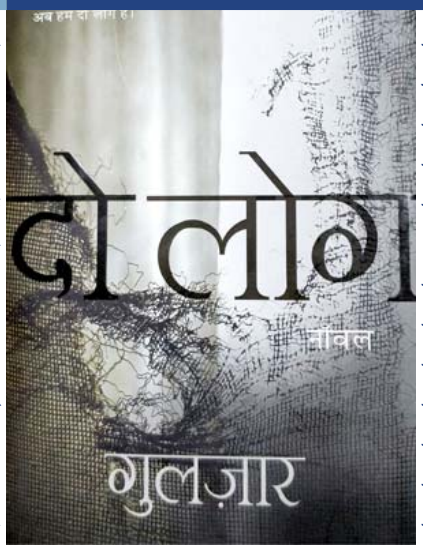

गुलज़ार...! नाम सुनते ही कुछ शब्द और उन शब्दों से बनी हुई सुंदर पेंटिंग्स, जिन्हें ज़माना कविताएँ, नज़्में और ग़ज़लें कहता है दिमाग़ के ठंडे गलियारों पर उभरने लगती हैं। इस नाम के साथ ही प्रकृति भी अपनी कृतियों के साथ उस गलियारे में आकर टहलने लगती है। कृतियाँ! जिनमें पहाड़, नदी, समंदर, कोहरा, हवा, बरसात, बादल, बिजली, रात, भोर, दोपहर, सर्दी, गर्मी, बरसात, ख़ुशबू... सब कुछ शामिल रहता है। गुलज़ार उन सबके साथ एकाकार होकर रचते हैं, रचते रहते हैं, और जो रचा जाता है वह एक जादू होता है। जैसे किसी ने टोना मार दिया हो। गुलज़ार का पहला उपन्यास 'दो लोग' हार्पर हिन्दी से प्रकाशित होकर आया है, जो भारत विभाजन के पूर्व तथा पश्चात के घटनाक्रम पर केंद्रित है।

भारत का विभाजन हमारे समय की सबसे बड़ी त्रासदी है, जिन लोगों ने उस समय को भोगा है, जिया है, उनकी आँखों से यदि उस पूरे घटनाक्रम को देखा जाए, तो देखने वाले की रूह काँप उठती है। विभाजन के बाद, बहुत बाद पैदा हुई पीढ़ी के लिए वह भले ही एक घटना 'भारत-पाक विभाजन' हो; लेकिन विभाजन भोगने वालों के लिए वह एक ऐसी गहरी यातना है, जिसकी पीड़ा आज़ादी के सत्तर बरस बाद भी उन्हें रात में सोते से जगा देती है। अचानक कुछ आवाज़ें अवचेतन में गूँजने लगती हैं। आवाज़ें अपनों की भी और उनकी भी, जो अपने नहीं थे। सर सीरिल रेडक्लिफ़ ने एक लकीर खींच दी और एक लाख पचहत्तर हज़ार वर्ग मील का एक देश दो हिस्सों में बँट गया। क्यों बँट गया यह बाँटने वालों को पता था, लेकिन जो बँट गए, उन्हें नहीं पता था। उन्हें तो यह भी नहीं पता था कि यह बँटवारा हमेशा के लिए हो रहा है। बस यही कहते हुए वे विस्थापित हो गए कि जब हालात सामान्य होंगें, तो अपने घर लौट आएँगे। अपना घर...? कौन सा अपना घर ? किसका अपना घर ? जो गया वो फिर नहीं लौटा। कई तो ऐसे भी थे कि न कहीं पहुँचे, न वापस लौटे, ज़िंदगी की बाज़ी हार कर वहाँ चले गए, जहाँ से कोई वापस नहीं आता। कितने मरे, इसका कोई अधिकारिक प्रमाणिक रिकॉर्ड नहीं है, तत्कालीन ब्रिटिश सरकारी अनुमान दो लाख कहता है, जबकि वास्तविकता में यह आँकड़ा बीस लाख के लगभग है। लगभग डेढ़ करोड़ लोगों ने इस महाप्रस्थान की त्रासदी को झेला।

विभाजन को लेकर हिन्दी और उर्दू साहित्य में बहुत लिखा गया। एक बड़ी त्रासदी जो घटित हुई थी, उसको लेकर लिखने को बहुत कुछ था उनके पास, जिन्होंने उसे भोगा था। जो विस्थापित नहीं हुए, अनुभव तो उनके पास भी थे, अपने नहीं थे तो अपनों के तो थे ही। अविभाजित भारत के पंजाब के झेलम जिले (अब पाकिस्तान में) के क़स्बे दीना में जन्म लेने वाले गुलज़ार ने विभाजन को वैसे नहीं भोगा, जैसे विस्थापितों ने भोगा, क्योंकि वे विभाजन के छह-सात साल पहले ही दीना से दिल्ली आ चुके थे। मगर दीना से जुड़ाव था, और फिर यह हुआ कि विभाजन ने दीना को हमेशा के लिए अलग कर दिया। दो लोग उपन्यास के ठीक कवर पेज पर लिखे गये गुलज़ार के तीन वाक्य 'हम एक थे। एक अलग हो गया। अब हम दो लोग हैं।' मानों विभाजन की पूरी कहानी कहते हैं। उस पीड़ा को व्यक्त करते हैं, जो उन सब ने झेली और जिनमें से अब कुछ ही बाक़ी हैं। गुलज़ार स्वयं कहते हैं- 'अपनी ज़मीन से उखड़े हुए वो लोग अभी तक बसे नहीं। 'दो लोग' ऐसे ही कुछ लोगों की कहानी है जो 'कैम्बलपुर' से निकल कर हिन्दुस्तान पहुँचे और अब तक भटक रहे हैं सत्तर साल हुए। मैं उनमें से बहुत लोगों से मिला हूँ। जगह-जगह। हिन्दुस्तान के शहरों में भी, और हिन्दुस्तान पाकिस्तान के बाहर भी....। मेरा मक़सद सिर्फ़ उन रेफ़्यूजियों की अज़ीयत बयान करना था जो ज़हनी और जज़बाती तौर पर अभी तक बसे नहीं। जिनको अभी तक बॉर्डर की लकीरों ने कलाई से पकड़ा हुआ है।' यह उपन्यास असल में इसी नहीं बस पाने की कहानी कहता है। उन लोगों की कहानी, जो कहीं के नहीं हो पाए।

दो लोग उपन्यास गुलज़ार का पहला उपन्यास है, ऐसा कहा जा सकता है। हालाँकि कहानियाँ उन्होंने ख़ूब लिखी हैं। उन कहानियों में से कुछ पर फ़िल्में भी बनाईं। 'चौरस रात', 'धुआँ', 'ड्योढ़ी' और 'रावी पार' उनके चार कहानी संग्रह हैं जिनमें उनकी कहानियाँ संकलित हैं। इन कहानियों में भी विभाजन और दो देश बनाए जाने के प्रति ग़ुस्सा हमेशा दिखाई देता है। उनकी प्रसिद्ध कहानी 'रावी पार' तो इस विषय पर रोंगटे खड़े कर देने वाली कहानी है। 'दो लोग' में कहानी बहुत विस्तार के साथ कही गई है, हालाँकि विस्तार के साथ कहने में विस्तार के साथ लिखा नहीं गया है, बस कहानी 1947 से चलकर 1999 तक आती है। अलग-अलग खंडों में अलग-अलग समय की पड़ताल करती हुई। जिस प्रकार समय

का विस्तार है, उसके चलते यदि उपन्यास में कोई चालीस-पचास पृष्ठ और होते, तो उसकी भी गुंजाइश थी। मगर यह भी नहीं कहा जा सकता है कि कुछ छूट गया है, या कुछ ठीक प्रकार से स्पष्ट नहीं हो पाया है। स्वयं गुलज़ार उपन्यास की भूमिका में लिखते हैं- 'कुछ दोस्तों को ये नॉवल मुख़्तसर लगा। मुख़्तसर ज़रूर है। लेकिन ये 'नॉवला' नहीं है। इसके सारे अंग पूरे नॉवल के हैं। सफ़हों के कम ज़्यादा होने से नॉवल एक 'नॉवला' नहीं हो जाता। ऐसा मेरा ख़याल है।' यहाँ गुलज़ार शिल्प की ओर इशारा कर रहे हैं कि उपन्यास पृष्ठों की संख्या से नहीं कहा जा सकता कि वह उपन्यास है या उपन्यासिका ? उपन्यास अपने अवयवों से ही परखा जाएगा। 'दो लोग' अवयवों के हिसाब से उपन्यास होने की कसौटी पर एकदम खरा उतरता है।

जब भी आप किसी ऐसे विषय पर लिखना शुरू करते हैं, जिस पर पहले भी बहुत कुछ लिखा जा चुका हो, तो सबसे पहला प्रश्न आपके दिमाग़ में यही उठता है कि अब आप इस पर नया क्या लिखेंगे ? जब आप लिख चुके होंगे और रचना पाठक के हाथों में आ जाएगी, तो पाठक के दिमाग़ में भी सबसे पहला प्रश्न यही आएगा कि अगले ने इतनी बार लिखे जा चुके विषय पर नया क्या लिखा है? साहित्य में नया कुछ नहीं होता, विषय तो बरसों-बरस से वही होते हैं, समय के साथ बस तकनीकी परिवर्तन आता-जाता है उनमें। मगर फिर भी पाठक नया चाहता है। यह जो नया होता है, यह प्रस्तुतिकरण होता है। प्रस्तुतिकरण, जिसमें भाषा, शिल्प, शैली आदि सब शामिल होते हैं। इनके प्रयोग से उसी विषय को आप किस प्रकार से प्रस्तुत करते हैं, बस वही नया होता है। ज़मीनें सारी तोड़ी जा चुकी हैं, अब आपकी खेती के लिए कोई नई ज़मीन बाक़ी नहीं है, अब तो आपको ही अपने किसी पूर्वज, अग्रज द्वारा तोड़ी गई ज़मीन पर कोई नई फ़सल उगा कर दिखानी होगी। जब फ़सल उगेगी, तो वह पूरी ज़मीन को ढक लेगी और ऐसे में देखने वाला बस फ़सल को ही देखेगा, ज़मीन को नहीं। 'दो लोग' में गुलज़ार ने विभाजन की कई बार कही जा चुकी कहानी को इतने नए अंदाज़ में प्रस्तुत किया है कि सब कुछ नया लगता है। फिर गुलज़ार स्वयं यह मानते हैं कि विभाजन पर उतना नहीं लिखा गया, जितना लिखा जाना था। वे भूमिका में लिखते भी हैं- 'दो लोगों के इतने बड़े migration की दूसरी मिसाल नहीं मिलती इतिहास में! लेकिन हम लोग उन ज़ख़्मों को दबा के बैठ गए और बात नहीं की। न फ़िल्में बनाईं, न तब्सरे किये, न मुड़ के जायज़ा लिया। हाँ कुछ दो या तीन इलाक़ाई ज़बानों में लिखते रहे। उर्दू, हिन्दी, पंजाबी और बंगला में। उससे ज़्यादा कुछ नहीं किया। पुश्तें गुज़र गईं लेकिन वो भड़ास अब तक सीनों में सुलग रही है।'

कहानी कैम्बलपुर की है और उपन्यास के पात्रों से ही कहलवा दिया गया है कि उसका नाम अब अटक है (भारत वाला अटक नहीं पाकिस्तान वाला, शायद उसका ठीक उच्चारण अटॉक हो क्योंकि अंग्रेज़ी में उसे Attock लिखा जाता है।)। कैम्बलपुर जिसका नाम 1978 में बदल कर अटक कर दिया गया है, पहले भी शायद इसका नाम अटक ही था। (मतलब शहरों के नाम बदलने का खेल सरहद के दोनों पार चल रहा है।)। कहानी विभाजन की सुगबुगाहट से आशंकित और एक दूसरे से डरे हुए लोगों के साथ शुरू होती है और ख़त्म होती है 1999 में करगिल युद्ध पर। बीच में बांगलादेश मुक्ति, इंदिरा गांधी की हत्या के बाद के दंगे, सबको समेटती हुई चलती है। और कहानी इन सारी घटनाओं को देखती है उन्हीं पात्रों की नज़र से, जो विभाजन का शिकार हुए हैं। या यूँ कहें कि जो उसी समय में स्थिर होकर खड़े हैं। जैसे कि 1947 में रुकी हुई पन्ना का, 1984 के सिक्ख हत्याकांड के समय अपने बेटे की प्रतीक्षा में बैठे हुए यह कहना 'दुकान तो फूँक दी होगी मुसलमानों ने ?' और उसके पालित बेटे कर्तार की पत्नी जसवंत कौर का उत्तर 'मुसलमान नहीं मैया... ये हिन्दू हैं!' । गुलज़ार ने वाक्य को तीखा होने से बचाने के लिए 'इस बार हिन्दू हैं' के स्थान पर 'ये हिन्दू हैं' का प्रयोग किया है; मगर उससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता, वाक्य अपना काम कर जाता है। असल में यही एक वाक्य है, जो अंत से कुछ पहले आता है और लेखक का मंतव्य स्पष्ट कर देता है कि आख़िर क्यों सत्तर साल बाद विभाजन की कथा लिखी; जब कि विभाजन पर तो कितना कुछ लिखा जा चुका है। गुलज़ार यदि सत्तर साल बाद उपन्यास लिख रहे हैं, तो केवल अपने या अपनों के अनुभवों का दस्तावेज़ीकरण करने के लिए नहीं लिख रहे हैं। वे यदि 2014 के बाद के समय में लिख रहे हैं, तो उसका कोई ख़ास अर्थ, कोई ख़ास मक़सद है। क्योंकि समय भी जैसे एक चक्र-सा पूरा कर पुनः उसी दहलीज़ पर खड़ा है, जहाँ से सत्तर साल पूर्व चला था। लेखक को समय का यह चक्र परेशान कर रहा है और वह बताना चाह रहा है कि जो कुछ हम चाह रहे हैं, वह सत्तर साल पूर्व भी चाहा गया था और चंद लोगों के उस चाहने ने हमें बीस लाख लाशें और डेढ़ करोड़ विस्थापित दिए थे।

'दो लोग' की कहानी वास्तव में एक कहानी न होकर कई कहानियों का एकाकार होना है। यह अनिश्चितता से घिरे बहुत से पात्रों की कहानी है। वे सब, जो किसी अनिष्ट की संभावना से डरे हुए हैं, सहमे हुए हैं। बहुत सारे पात्र हैं इस कहानी में, यहाँ मास्टर फ़जल दीन हैं, उनका बेटा सलीम है, मास्टर करम सिंह हैं, उनकी पत्नी हरनाम कौर, बेटा अवतार, बहू सत्या, बेटी निक्की है, राय बहादुर देसराज हैं उनकी पत्नी, बेटा जयपाल, बेटी है, तवायफ़ पन्ना है, शमीमा है, तिवारी उसकी पत्नी दमयन्ती, बहू कान्ता और पोता गुड्डू है, फ़ौजी है, लखबीरा है, पर्तपाल है, उजागर सिंह है, उमर शेख़ है, हशमत कसाई और उसका बेटा बाक़र है, फ़ज्जू गड्डे वाला है, इंस्पेक्टर करीम उल्लाह, इंस्पेक्टर रहीम उल्लाह, इंस्पेक्टर शर्मा-वर्मा हैं, मोनी-सोनी हैं और रास्ते में मिलने वाला बूढ़ा बाबा और उसका बेटा करतार सिंह है, उस्मान है, गैरी टॉमसन है, पठान है, बेबे है, ग़ुलाम है, हरीराम है, लौकी, जेलर अब्दुल सलाम क़ुरैशी, जॉर्ज, जैस्मीन, एडना, रामकुमार पुष्करणा, सलीम सिद्दीक़ी, अली रज़ा, जाफ़र मियाँ, जसवंत कौर और कुत्ता टाइगर तथा भूरी भैंस भी हैं। एक बड़ा कोलाज-सा है पात्रों का, सब एक-दूसरे में गड्डु-मड्डु। बहुत से पात्र; मगर सबकी इंटरकनेक्टिविटी बिलकुल साफ-साफ। और इतने ज़रूरी पात्र कि कुत्ता टाइगर तथा भूरी भैंस भी विभाजन पर प्रश्न बने खड़े नज़र आते हैं। गुलज़ार ने इन दोनों को भी

प्रतिरोध में खड़ा कर दिया है, विभाजन के प्रतिरोध में। सब के सब उस भीड़ का या तो स्वयं हिस्सा बने हैं, जो विस्थापित हो रही है, या अपने लोगों को उस भीड़ का हिस्सा बनते हुए देख रहे हैं। देख रहे हैं बस चुपचाप, हाथ बढ़ा कर कुछ कर ही नहीं पा रहे हैं। जिन लोगों ने भोपाल गैस कांड की रात आँखों से देखी है (मैंने देखी है) वे कल्पना कर सकते हैं कि किस प्रकार मौत से बचने के लिए एक पूरा शहर भाग रहा था, जहाँ, जो साधन मिल रहा था उसी से; और कुछ नहीं मिला तो पैदल ही। विभाजन में तो कई-कई शहर के शहर मौत से बचने के लिए इधर से उधर भागे थे।

शिल्प के स्तर पर 'दो लोग' में गुलज़ार बहुत प्रयोग नहीं करते हैं, शायद उन्हें लगा होगा कि इतने बड़े संत्रास की कथा कहीं शिल्प के प्रयोगों से डायल्यूट नहीं हो जाए। उन्होंने एक पूरा मंज़र जस का तस पाठकों के सामने रख दिया है। जैसा का तैसा। और इसी कारण पाठक दर्द की उस शिद्दत को महसूस कर पाता है, जिसे भोगने वालों ने भोगा था। वे लोग जो विस्थापित नहीं होना चाहते थे, वे लोग जो आज भी अपने आप को वहीं का बताते हैं। स्वयं गुलज़ार ने आपने माता और पिता को पुस्तक समर्पित करते हुए लिखा है 'सरदार मक्खन सिंह और सुजान कौर, दीना वाले (पाकिस्तान)' यहाँ दीना वाले और पाकिस्तान शब्द को बहुत बोल्ड करके नहीं लिखा गया है मगर इन शब्दों की बोल्डनेस महसूस होती है। शिल्प को जटिल न रख कर सादा और सरल रखा है इस उपन्यास में, जबकि उनकी कहानियाँ जटिल होती हैं, समझने में नहीं, शिल्प में। जैसे उनकी एक कहानी है 'ख़ौफ़' जो मुम्बई दंगों के समय की कहानी है। रेल के एक डब्बे में घटित होती यह कहानी बहुत जटिल है शिल्प के स्तर पर। मनोविज्ञान के दुरूह प्रयोगों के कारण यह कहानी पाठक को दूसरी दुनिया की सैर करा देती है। पाठक स्वयं पात्र बन जाता है और रेल के उस डब्बे में बैठा उस भय को महसूस करता है। इससे अलग 'दो लोग' में सूचनाएँ हैं और उनके बीच-बीच में संवाद हैं। सूचनाएँ, जो 1947 में घट रहे उस पूरे घटनाक्रम के पीछे जो कुछ घट रहा है उसकी सूचनाएँ, जो संवादों और पात्रों के साथ आकर घुल जाती हैं। जब उपन्यास संवादों की ओर मुड़ता है, तो ऐसा लगता है जैसे हम अपने ही घर-मुहल्ले में चल रही बातचीत को सुन रहे हैं। और उस बातचीत के बीच में ही अचानक कोई संवाद ऐसा आ जाता है, जो आपको बता देता है कि आप जो उपन्यास पढ़ रहे हैं वह गुलज़ार का है। 'तवारीख़ लम्बे-लम्बे डग भर रही थी इस वक़्त। मैं अपने वक़्तों की बात कर रहा हूँ, बीसवीं सदी! दूसरी जंगे अज़ीम ख़त्म हुई -और जरमनी को तोड़ कर दो हिस्सों में बाँट दिया गया... इस्ट जरमनी-वेस्ट जरमनी! मुल्क तो बटा, लोग भी बट गये। वो एक लोग थे। अब दो लोग हो गये। ये एक काम करने के लिए छः करोड़ तीस लाख लोगों की जान गयी।'

'दो लोग' उपन्यास आख्यान वाली शैली में लिखा गया है। अंत के पृष्ठों तक आते-आते यह महाआख्यान का रूप ले लेता है। हालाँकि आकार को देखते हुए महाआख्यान कहा जाना शायद अतिरंजित लगे; मगर जब आप इस पढ़ेंगे, तो आपको कहीं से नहीं लगेगा कि उपन्यास का आकार छोटा है। लगभग पैंतीस से चालीस हज़ार शब्दों का यह उपन्यास है, जो 170 सफ़ों में फैला हुआ है। (170 सफ़ों में बस पैंतीस से चालीस हज़ार शब्द ? दरअसल उपन्यास में फॉण्ट साइज़ बहुत बड़ा रखा गया है।) महाआख्यान वही तो होता है जो बहुत सारे पात्रों की कथाएँ लेकर चले, कथाएँ जो आपस में एक दूसरे के साथ अंदर ही अंदर जुड़ी हुई हों। जहाँ अंत तक आते-आते सारे पात्र किसी न किसी अंजाम को पहुँचें। बहुत सारे पात्रों को साथ लेकर चलने के भी अपने ख़तरे होते हैं, एक भी पात्र यदि बीच में, हवा में आपके हाथ से छूट गया, तो आपको तो पता नहीं चलेगा; पर पाठक को तुरंत चलेगा। आख्यान-उपन्यास पर्वतारोहण के समान होते हैं, एक तरफ़ से चढ़ते समय विस्तार करते जाना तथा दूसरी तरफ़ से उतरते समय सब कुछ समेटते जाना। यहाँ सब कुछ समेटने का मतलब होता है, सब कुछ समेटना। जो कुछ उतरते समय लेखक के समेटने से छूट जाता है, वही पाठक के दिमाग़ में फाँस बन कर अटक जाता है। हालाँकि किसान जीवन के महा आख्यान 'गोदान' और अयोध्या के महाआख्यान 'आख़िरी कलाम' में बहुत सारे पात्र नहीं हैं; लेकिन वहाँ पर शैली में ही इस प्रकार का प्रभाव मुंशी प्रेमचंद और दूधनाथ सिंह ने पैदा किया है कि सब कुछ बहुत फैला हुआ, बहुत विस्तृत लगता है।

उपन्यास को तीन भागों में बाँटा गया है, भाग एक में विस्थापन से पहले और विस्थापन के दौरान का घटनाक्रम है, तो भाग दो में विस्थापन के तुरंत बाद विस्थापितों के भारत पहुँचने की घटनाएँ हैं। भाग तीन विभाजन के बाद के हालात पर केंद्रित है। भाग तीन में भी तीन स्पष्ट भाग हैं, जिन्हें वैसे अलग नाम नहीं दिए गए हैं, पर हैं। बांगलादेश मुक्ति, सिक्ख हत्याकांड और करगिल युद्ध के बहाने हालिया समय को लेखक ने टटोलने की कोशिश की है। शिल्पगत एक अच्छा प्रयोग यह है कि गुलज़ार 1947 से आगे बढ़कर 1971, 1984 और 1999 तक पहुँचते हैं; मगर पहुँचते हैं उन्हीं पात्रों के साथ जो 1947 में विस्थापित होकर यहाँ-वहाँ भटक रहे हैं। इन पात्रों की मनोदशा और उनके समय के एक विशेष खंड में फ्रीज़ हो जाने को गुलज़ार ने संवादों के ज़रिए बहुत ख़ूबसूरती के साथ दर्शाया है। ये पात्र जैसे 1947 में ही खड़े होकर बातें कर रहे हैं। संवाद वैसे भी गुलज़ार का सबसे मज़बूत पक्ष है, यहाँ इस किताब में यह मज़बूत पक्ष और मज़बूत होकर उभरा है। 1984 के समय का एक बहुत प्रभावी संवाद है 'इस मुल्क में पता नहीं चलता कब हाँडी गुड़गुड़ाने लगे। यहाँ की सियासत चौपाल के हुक़्क़े की तरह है। जिसके मुँह में नली आये, वही ज़मींदार बन बैठता है।' गुलज़ार इस उपन्यास में व्यंग्य को बाहर से नहीं लाते, वहीं अंदर से ही पैदा करते हैं। व्यंग्य जब अंदर से पैदा होता है, सामान्य पात्रों के सामान्य संवादों से ही पैदा होता है, तभी वह व्यंग्य होता है। यह उपन्यास ऐसे बहुत से ऐसे व्यंग्य वाक्यों से भरा हुआ है। 'ये ज़रूरी नहीं कि तुम हिन्दू हो तो सिर्फ़ हिन्दुस्तान के हो सकते हो। तुम पाकिस्तानी भी हो सकते हो। ब्रिटिश भी।' छोटे-छोटे वाक्यों से कमाल करना गुलज़ार की रचनाओं में अक्सर देखने को मिलता है, यह उपन्यास इस प्रकार के छोटे-छोटे वाक्यों से भरा पड़ा है।

कहानी एक रस्सी के ऐसे टुकड़े के

समान है जिसके बट दोनों सिरों पर खुले हुए हैं। अतीत में भी और भविष्य में भी। बस थोड़े समय के लिए बीच में सारे धागे आपस में गुँथ कर रस्सी की शक्ल लेते हैं। रस्सी का जो दूसरा सिरा है, वह तत्कालीन वर्तमान से होता हुआ भविष्य में दूर तक बिखरा हुआ नज़र आता है, जैसे कोई धुआँ आसमान में जाकर समा रहा हो, वहीं जाकर उपन्यास समाप्त हो जाता है। पाठक नीचे खड़ा होकर देखता रह जाता है धुएँ के उन अलग-अलग सिरों को जो कहीं दूर जाकर समा रहे हैं। फ़ौजी का वह ट्रक जो उपन्यास के मध्य भाग से होकर गुज़रता है, जिसमें कुछ लोग हैं, जो कैम्बलपुर से चले हैं और कुछ लोग जो रास्ते में मिल रहे हैं। इस ट्रक को गुलज़ार ने एक प्रतीक के रूप में उपयोग किया है और ट्रक ड्रायवर को शायद इसीलिए फ़ौजी रखा है। फ़ौजी का ट्रक, जो विस्थापितों को लेकर इधर से उधर जा रहा है। ट्रक जो गंतव्य तक नहीं पहुँच पाता, रास्ते में उसके टायर बिखर जाते हैं और वहीं पर सारा कारवाँ बिखर जाता है। ट्रक वहीं खड़ा रहा जाता है, अभिशप्त-सा। कुछ लोग नीचे उतर रहे पगडंडी के बाएँ कारवाँ में शामिल हो जाते हैं, तो कुछ ऊपर जा रहे दाएँ तरफ़ एक लम्बे कारवाँ में, जो पता नहीं कहाँ जा रहा था। ट्रक वहीं खड़ा रहता है। गुलज़ार की फ़िल्मों में भी इसी प्रकार निर्जीव वस्तुएँ प्रतीकों के रूप में आती रहती हैं। बहुत कुछ जो कहना है, वह इन निर्जीव वस्तुओं की ख़ामोशी कह देती है। एक गहन रात के बाद जब सुबह आती है, तो खँडहर से कुछ यह नज़ारा दिखाई देता है- 'ट्रक के दोनों पहिये बैठ गए थे। ट्रक दो ज़ानों बैठा हुआ था। स्टेपनी दूर पड़ी थी। थोड़ा कुछ बिखरा सामान नज़र आया। ज़्यादा कुछ नहीं।' यहाँ ऐसा लगता है कि जैसे लेखक ट्रक की बात नहीं कर रहा है; बल्कि अविभाजित भारत की बात कर रहा है। अविभाजित भारत की रूह की चर्चा कर रहा है। वह जो दो ज़ानों (जाँघों) पर बैठा हुआ है, घायल, पस्त, थका हुआ, लाचार। जो अपने प्रजाजनों को जाता हुआ बस देख रहा है। और उस पर दृष्टि डाली जा रही है एक खँडहर से। खँडहर, रात, सुबह और घुटनों नहीं बल्कि जाँघों के बल बैठा हुआ कातर ट्रक। ऐसा लगता है, जैसे किसी बड़े से कैनवास पर एक घना लैंडस्केप बनाया गया है, भूरे और उदास रंगों से।

इस उपन्यास को पढ़ने के लिए पाठक के पास सबसे आकर्षक कारण है गुलज़ार की भाषा। गुलज़ार के यहाँ भाषा का जादू उनकी हर विधा में साँसें लेता है, फिर भले वो उनकी नज़्में हों, ग़ज़लें हों, फ़िल्मी गीत हों, कहानियाँ हों, उपन्यास हो या फिर दर्शक को अपने मोहपाश में बाँध लेने की कला में माहिर उनकी फ़िल्में हों। गुलज़ार अपनी हर विधा की रचना को बहुत मद्धम आँच पर पकाते हैं, जैसे कोई शैफ़ अपने में ही मगन होकर अपनी कोई डिश बनाता हो। एक-एक मसाले को बहुत प्यार से उठाता है और अपनी उँगलियों के पोरों से बिखेर देता है। गुलज़ार के हाँ (वे अक्सर 'यहाँ' को 'हाँ' कहते हैं -मेरे हाँ) भी शब्द इतने ही प्यार से उठाए जाते हैं और रचनाओं में अपनी उँगली का लम्स देकर बिखेर दिए जाते हैं। और फिर यह होता है कि शब्द साँसें लेने लगते हैं, धड़कने लगते हैं, ज़िंदा हो जाते हैं। भाषा का यह कमाल गुलज़ार के इस उपन्यास में भी है और पूरे उरूज पर है। उपन्यास के प्रारंभ में ही दो जिगरी दोस्तों मास्टर फ़ज़ल दीन और मास्टर करम सिंह के बीच के संवाद, फ़ौजी, लखबीरा और पर्तपाल के बीच के संवाद, भाषा का वही जादू जगाते हैं। पता लगता है कि हाँ यह गुलज़ार का ही उपन्यास है। कुछ शानदार प्रयोग-

'तवारीख़ ऐसे ही सर उठाए चलती है, नीचे नहीं देखती पाँव में क्या कुचल रही है... देखती नहीं...! नीचे लोग हैं! आम लोग! जिनका ख़ून बहता है।'

'मुल्क कोई बस्ते की तख़्ती है, जिन्नाह तोड़ देगा ? कोई सिलेट है के अद्धी तू ले ले अद्धी मैं ले लेता हूँ। मुल्क भी कभी टूटते हैं ?'

'जिस मिट्टी से निकली थी, उसी में जाकर रुल जाऊँ तो अच्छा है। यहाँ तो न घर बना न वतन!... मेरे पास जो बचा है वो उठा कर ले आयी हूँ। मुझे वहीं पहुँचा दे जहाँ से उसमान उखाड़ के लाया था... मेरी जड़ें उधड़ी-उधड़ी लटक रही हैं मेरे साथ!'

'खाते तो अंग्रेज़ भी हैं लेकिन बराहेरास्त हाथ में कुछ नहीं लेते। वो तो रोटी का निवाला भी हाथ से मुँह में नहीं डालते। छुरी से काटते हैं और काँटे से उठा कर मुँह में डालते हैं! और दोनों कामों के लिए हिन्दुस्तानियों का इस्तेमाल करते हैं। छुरी भी! काँटा भी!'

'मैं भी जा सकता था। लेकिन हिन्दुस्तान से बाहर जाने को कभी जी नहीं चाहा। कोई बात है इस मिट्टी में, आप जुड़े भी रहते हैं, उखड़े भी रहते हैं!'

'सिर्फ़ शौहर के साथ ही बसना थोड़ा ही होता है। बेटे के साथ भी तो बस जाती हैं मायें।'

'चीन के पास मरवाने के लिए बहुत लोग हैं। वैसे कम हिन्दुस्तान के पास भी नहीं हैं।'

'पचास साल हुए... बल्के ज़्यादा ही होंगे। पता नहीं कब बड़े होंगे ये दोनों लोग?'

'वो सब ज़िन्दगी न छोड़ने के लालच हैं। न कोई क़ब्र से उठेगा। न कोई दोबारा जन्म लेगा।'

अंग्रेज़ वाले संवाद में अंतिम हिस्से में गुलज़ार ने वही कमाल किया है, जिसके लिए वो मशहूर हैं। और इस बहाने से उन्होंने विभाजन और विभाजन में अंग्रेज़ों की भूमिका की पूरी तस्वीर को स्पष्ट कर दिया है। यह गुलज़ार का सलीक़ा है कि वो इतिहास की बहुत बड़ी बात, विभाजन का पूरा कच्चा-चिट्ठा, बस एक वाक्य के द्वारा खोल कर रख देते हैं। बहुत तामझाम नहीं जुटाते। अंग्रेज़ों ने विभाजन के लिए छुरी भी हिन्दुस्तानियों को ही बनाया और काँटा भी। न केवल विभाजन के समय, बल्कि उससे पहले से, बहुत समय पहले से।

उपन्यास में दो दृश्य हैं, जो इस छुरी और काँटे वाले प्रतीकों को खोलते हैं। मास्टर फ़ज़ल दीन को अंग्रेज़ अफ़सर ने पुलिस थाने में हाज़िरी देने का फ़रमान दिया, कहीं भी किसी भी वक़्त बुलाया जा सकता है। फ़ज़ल दीन को कभी इंस्पेक्टर शर्मा का हुक्म आ जाता, कभी इंस्पेक्टर वर्मा का। दोनों बुलाकर फ़ज़ल दीन को बेइज़्ज़त करते। हर वारदात का सिरा उनसे जोड़ने की कोशिश करते। मास्टर फ़ज़ल दीन से जब मास्टर करम सिंह पूछता है 'क्यों...? बता, चाहिये तुझे पाकिस्तान?' तो मास्टर फ़ज़ल दीन की आँखें झुक जाती हैं। एक जवाब जो वो करम सिंह को दे नहीं पाते हैं वह नैपथ्य

में गूँजता है 'ये जो शर्मा और वर्मा, उसकी जान को लगे हैं, वो उसे सल्ला कह कर बुलाते हैं। बेइज़्ज़त करते हैं। इसलिए सल्लों को पाकिस्तान चाहिए!' यह नहीं कहा गया संवाद सारी कहानी कह देता है। इसी प्रकार का एक और घटनाक्रम है जहाँ राय बहादुर देसराज की लाइसेंसी रिवाल्वर से अंग्रेज़ अफ़सर गैरी टॉमसन, उस्मान पठान का ख़ून कर देता है। राय बहादुर केस में फँस जाते हैं। उनकी हाज़िरी तय होती है इन्स्पेक्टर रहीमउल्लाह के यहाँ या फिर सब-इन्स्पेक्टर करीमउल्लाह के यहाँ। यह दोनों राय बहादुर को थाने में जब-तब बेइज़्ज़त करते हैं 'टोपी पहना कर, लाला टोपी! पगड़ी पठानों का पहनावा है, लालाओं का नहीं!', 'लालाजी... अंग्रेज़ जब जा ही रहे हैं, तो ये राय बहादुर का ख़िताब भी उन्हें वापिस कर देते तो अच्छा नहीं था? इज़्ज़त रह जाती।' राय बहादुर का बस चलता तो उन दोनों को गोली मार देते। रहीम को भी और करीम को भी। यह जो धर्म का इन्वॉल्वमेंट है, यह बहुत शातिर तरीक़े से अंग्रेज़ों द्वारा किया गया है, वही छुरी-काँटे वाला प्रतीक जो ऊपर आया है। वर्मा-शर्मा और रहीम-करीम वही छुरी-काँटे हैं, जिनकी बात गुलज़ार करते हैं। ये वही छुरी-काँटे हैं जिनकी मदद से हिन्दुस्तान को, हिन्दुस्तानियों को काटा गया, बाँटा गया। वर्मा-शर्मा को फ़ज़ल दीन के पीछे लगा कर और रहीम-करीम को देसराज के पीछे।

एक गहरा षड्यंत्र जैसे रेशा-रेशा होकर सामने आता है। यहाँ एक पूरा टुकड़ा नैरेटर द्वारा कहा गया है- 'पाकिस्तान नक़्शे पर बनने से पहले दिमाग़ों में बन रहा था। सिर्फ़ मुसलमानों में नहीं, हिन्दुओं के दिमाग़ों में एक हिस्सा लोगों का कट गया था। जैसे सदियों पहले से अछूतों को अलग कर रखा था। इस बार सिर्फ़ कुएँ और मन्दिर ही नहीं- ज़मीन का टुकड़ा ही अलग कर दिया... लेकिन ये बटवारा ज़मीन का नहीं, ज़हनों का था...! सन् 46 ख़त्म होते-होते बटवारे की हदें भी नज़र आने लगीं। सन् 47 दूर नहीं था, लेकिन आज़ादी अभी बहुत दूर नज़र आ रही थी। जैसे-जैसे आज़ादी की तारीख़ पास आ रही थी। आज़ादी और दूर होती लग रही थी।'

गुलज़ार, फ़ज़ल दीन और राय बहादुर देसराज के दो दृश्य रचते हैं और उसके बाद नैरेटर आकर यह पूरी बात कहता है, पाठक की आँखों के सामने से जैसे कोई परदा हट जाता है। उसके बाद पाठक इसी सच के साथ पूरे उपन्यास में रहता है। गुलज़ार इसी बात को भूमिका में कह चुके हैं कि संक्षिप्त में भी बात कही जा सकती है, हर बात के लिए विस्तार आवश्यक नहीं। बात पूरी और स्पष्ट होनी चाहिए। वैसे भी उपन्यास में यदि लेखक विस्तार में बातें करने लगता है तो पाठक ऊबने लगता है। गुलज़ार ने अपनी तरफ़ से पाठक को ज्ञान देने की कोशिश नहीं की है, बस दो उदाहरण देकर अपनी बात कह दी है। मानना न मानना यह तो पाठक का निजी मामला है। यहाँ गुलज़ार लिखते हैं 'अंग्रेज़ों के बोये हुए काँटे, ज़मीन से से ऊपर आ गये थे। और तलवों में चुभने लगे थे। बड़े पुख़्ता तरीक़े थे उनके।'

गुलज़ार चूँकि फ़िल्मकार भी हैं इसलिए उपन्यास के कई दृश्य कमाल के रचे हैं उन्होंने। और इस प्रकार रचे हैं कि पाठक उनको विज़ुअलाइज़ भी करता है पढ़ते हुए। उपन्यास के तीन दृश्य ऐसे हैं, जो उपन्यास पूरा पढ़ लेने के बाद भी पाठक के साथ रह जाते हैं। और शायद बरसों बरस तक साथ रहेंगे। छोटे-छोटे दृश्य हैं। गुलज़ार ने उपन्यास को बहुत कसावट के साथ एडिट किया है, जिस प्रकार वे अपनी फ़िल्मों को एडिट करते हैं। कुछ भी अतिरिक्त नहीं हो। छोटे-छोटे वाक्य, छोटे-छोटे दृश्य। मगर छोटे होने के बाद भी सम्पूर्ण। कहीं कोई अधूरापन नहीं। यह तीन दृश्य भी बहुत छोटे हैं, मगर दीपक के बुझ जाने के बाद काँपते हुए धुँए की तरह देर तक पाठक की स्मृति में थरथराते रहते हैं। यह बहुत उदास दृश्य हैं।

एक दृश्य है जहाँ मास्टर करम सिंह, उमर शेख़ के यहाँ गए हैं रेडियो पर ख़बर जानने। घर के अंदर से बच्चों की आवाज़ आने पर उमर शेख़ बताते हैं कि उनकी बेटी मीरां आई है मेरठ से। मास्टर साहब हुलस कर अंदर जाने को होते हैं 'ओहो... बेटी आयी है। बड़े सालों बाद। मैं मिल लूँ ? बाप से क्या पर्दा उसका...' शेख़ साहब संजीदगी से उन्हें अंदर जाने से रोक देते हैं। करम सिंह के पूछने पर बताते हैं 'मीरां का ख़ाविंद... मेरठ के... दंगों में क़त्ल हो गया।' लड़खड़ाते हुए मास्टर करम सिंह बाहर निकलते हैं और चार क़दम चल के गिर पड़ते हैं।

एक और दृश्य है जहाँ मास्टर करम सिंह कैम्बलपुर छोड़ने के पहले अपनी भूरी भैंस को खोल कर चल देते हैं। दोस्त फ़ज़ल दीन के घर की ओर, जिससे अब कई दिन से नहीं मिले हैं। कुछ देर तक दरवाज़े पर खड़े रहते हैं। फिर वहीं फ़ज़ल दीन के दरवाज़े की कुंडी से भैंस को बाँध देते हैं और लौट जाते हैं। भैंस के हिलने-डुलने से दरवाज़े की कुंडी बजती है, फ़ज़ल दीन दरवाज़ा खोलते हैं तो सामने भैंस खड़ी है। खेस उठाते हैं तो भैंस की पीठ पर चाक से लिखा होता है 'मैं शर्मिन्दा हूँ। पाकिस्तान तुम्हारे हवाले कर के जा रहा हूँ।'

एक तीसरा दृश्य है जब मास्टर करम सिंह अपनी बेटी की ससुराल पहुँचते हैं, पता चलता है कि वहाँ से सब लोग जा चुके हैं, बस केवल नौकर हरिराम है। जो तुर्की टोपी पहने हुए बैठा है। करम सिंह के पूछने पर वो आँखों में आँसू भर कर कुत्ते टाइगर की ओर इशारा करके कहता है 'उसे यहाँ छोड़कर कैसे जाता। इतना-सा था मेरी हथेलियों के बराबर जब आया था और मैंने...' मास्टर के कहने पर कि यहाँ किसी ने देख लिया तो, वह कहता है कि मैंने अपनी चोटी काट दी है और यह तुर्की टोपी पहन ली है। मास्टर द्वारा फिर यह कहे जाने पर 'मतलब इस कुत्ते के लिए तुम.....' वह उत्तर देता है 'कुत्ता क्या सरदार जी...? पाला है बेटे की तरह! कहेंगे तो मुसलमान हो जाऊँगा। लेकिन इसे छोड़ कर मैं नहीं जाऊँगा।'

यही तीनों दृश्य स्तब्ध कर देने वाले दृश्य हैं। पाठक इनको पढ़ने के बाद कुछ देर के लिए रुक जाता है। आगे पढ़ नहीं पाता। पीछे पन्ने पलट कर दृश्य को एक बार फिर पढ़ता है। फिर-फिर पढ़ता है। पाठक यदि संवेदनशील होगा तो यह दृश्य उसकी आँखों की कोरों को नम भी कर देंगे। गुलज़ार ने इस प्रकार के दृश्य अपनी फ़िल्मों में भी ख़ूब रचे हैं, विशेषकर 'माचिस', 'लेकिन', 'इजाज़त', 'आँधी' और 'मौसम' में इस प्रकार के भावनात्मक दृश्य गुलज़ार ने अपनी ही शैली में बनाए हैं। 'इजाज़त' तो इस प्रकार के दृश्यों का एक कलेक्शन ही

है। हिन्दी साहित्य की मुख्य धारा में इन दिनों इस प्रकार के भावनाप्रधान दृश्य रचना ठीक नहीं माना जाता है। हिन्दी कहानी-उपन्यास की मुख्य धारा में शुष्क गद्य को ही सही गद्य माना जाता है। उस दृष्टि से हो सकता है कि हिन्दी मुख्य धारा के आलोचकों को यह भावनात्मक दृश्य असहज लगें। लेकिन यह भी समझना ही होगा कि इसी प्रकार की कोष्ठक बंदी ने हिन्दी साहित्य की आज वह स्थिति कर दी है कि उसे पाठकों के लिए ही संघर्ष करना पड़ रहा है। पाठक एक उपन्यास में सब कुछ चाहता है। मगर इन दिनों सब कुछ के स्थान पर, केवल ज्ञान देकर काम चलाया जा सकता है। आलोचक, संपादक, लेखक स्वर्गीय सुशील सिद्धार्थ ने एक आयोजन में अपने भाषण में कहा था- 'यदि मुझे ज्ञान ही प्राप्त करना होगा, तो मैं मार्क्स को पढ़ूँगा, अम्बेडकर को पढ़ूँगा, लोहिया को पढ़ूँगा, ज्ञान की बहुत सारी किताबें हैं। मैं ज्ञान प्राप्ति के लिए किसी का उपन्यास क्यों पढ़ूँ, जब उससे बेहतर ज्ञान प्राप्ति की पुस्तकें उपलब्ध हैं मेरे पास। मैं यदि किसी उपन्यास को पढ़ रहा हूँ, तो उसे केवल और केवल उपन्यास के लिए ही पढ़ रहा हूँ और मेरी प्राथमिक शर्त उससे यह है कि वह कम से कम उपन्यास तो हो।' यह जो सुशील जी द्वारा कहा गया 'कम से कम उपन्यास' है उसे हिन्दी की मुख्य धारा को समझना होगा। पाठक ज्ञान प्राप्ति के लिए नहीं आ रहा है। हो सकता है वह आपसे भी अधिक ज्ञानी हो। इसलिए उसे वह दीजिए जो वह चाह रहा है।

इस पूरे उपन्यास में कहीं भी हिन्दू और मुसलमान के बीच नफ़रत नहीं है। बल्कि सब कुछ विपरीत ही है। मास्टर करम सिंह को हशमत कसाई और उसका बेटा बाक़र बचा कर गाँव तक छोड़ते हैं। घर से निकाली गई तिवारी की विधवा बहू कान्ता और उसके बेटे को शेख़ उमर अपने घर में शरण देता है, और फ़ौजी को पैसे देता है कान्ता को सकुशल बॉर्डर पार कराने के लिए यह कह कर 'बॉर्डर पार करा देना मैं समझूँगा हज कर आया। मेरी बेटी जैसी है।' और वह पठान जो रास्ते में मिलता है, जो खँडहर में मोनी और सोनी का रक्षक बना खड़ा हुआ है। या 1984 में कर्तार सिंह को बचाने वाला जाफ़र मियाँ हो। या वह बाजरे और गुड़ के वो रोट, जो शेख़ उमर की पत्नी ने कान्ता को रास्ते के लिए बना कर दिए थे। गुलज़ार ने पूरे उपन्यास में नफ़रत नहीं दिखाई है। हो सकता है यही उस समय की सच्चाई भी हो, या ये भी हो सकता है कि लेखक यही दिखाना चाह रहा हो। आपसदारी के ख़ूबसूरत टुकड़े जोड़े गए हैं इस उपन्यास में। हालाँकि इस उपन्यास में प्रेम कहीं नहीं है। गुलज़ार के उपन्यास में पाठक सबसे पहले शायद उसी को तलाशेगा। पन्ना और फ़ौजी के बीच कुछ काँपते हुए, अस्पष्ट-से भाव के अलावा पूरे उपन्यास में प्रेम जैसा प्रेम नहीं है। और यह भी एक प्रश्न और एक उत्तर के रूप में। पन्ना की बहू का प्रश्न 'मैया... फ़ौजी तुझे याद करता होगा?' और पन्ना का उत्तर 'हूँ... मैं याद करती हूँ-तो वो भी करता होगा। नीचे उतरते हुए एक बार मुड़ कर देखा था। वो पहाड़ की दूसरी तरफ़ उतर रहा था।' इसके अलावा कोई अंतर्कथा ऐसी नहीं है जो प्रेम के साथ-साथ आगे बढ़ रही हो। शायद इसलिए भी कि इससे पहले विभाजन पर अधिकतर जो लिखा गया है, उसके केंद्र में प्रेम था। यहाँ गुलज़ार ने इंसानियत को प्रेम के मुकाबले तरजीह दी है। प्रेम शायद दर्द की उस शिद्दत को कम कर देता, जो गुलज़ार दिखाना चाहते थे।

गुलज़ार यह मानने को तैयार नहीं हैं कि यह सब कुछ धर्म के कारण हो रहा है। एक धर्म दूसरे को मार रहा है, ऐसा कुछ नहीं है। वे अपनी अलग स्थापनाएँ देते हैं। दूसरा भाग कुछ यूँ शुरू होता है 'बटवारा बापू की लाश पर होना था। सो वैसे ही हुआ। वो सबसे पहले गिराये गये। पिस्तौल की गोलियों से। और मारने वाला भी उन्हीं की मत का हिन्दू निकला। वो हिन्दुस्तान के राष्ट्र-पिता थे। Father of the Nation.' उसी प्रकार जैसे रास्ते में ट्रक रोक कर पैट्रोल लूटने के लिए लखबीरे की हत्या करने वाले स्टेशन वैगन में सवार दोनों व्यक्ति सरदार होते हैं। मतलब यह कि कारण धर्म नहीं है। यहाँ हिन्दू, मुसलमान को या मुसलमान, सिक्ख को नहीं मार रहा है। यहाँ तो परिस्थितियाँ, परिस्थितियों को मार रही हैं। बहुत दूर खड़े होकर देखने पर ऐसा भ्रम पैदा हो रहा है कि यह धर्मों का टकराव है, जबकि वास्तविकता में यह परिस्थितियों का टकराव है। इसलिए 1947 में आप कुछ बहुत दावे के साथ नहीं कह सकते कि किस ने किस को मारा। गुलज़ार बस एक उदाहरण देते हैं लखबीरे का, जो स्वयं सिक्ख है और जिसकी हत्या दो सिक्खों ने ही की। इस बात पर विश्वास करना किसी के लिए भी ज़रा कठिन होगा; क्योंकि विभाजन को लेकर हमारा एक माइंड सेट है। या यूँ कहें कि हमारा एक माइंड सेट कर दिया गया है। हमारा, मतलब दोनों तरफ़ के लोगों का।

एक ट्रक, जो 1946-1947 की बीतती हुई सर्दियों में कुछ लोगों को लेकर कैम्बलपुर से चला है, जब विभाजन सिर पर खड़ा हो गया है। ट्रक में फ़ौजी, लखबीरा, पन्ना, रायबहादुर, उसकी पत्नी, बेटा-बेटी, तिवारी, उसकी पत्नी, बहू कान्ता, पोता सवार हैं, उनकी यात्रा के साथ ही चलती है यह कहानी। जिसमें रास्ते में मिलते हैं कर्तार सिंह और उसका दादा और फिर सोनी-मोनी। यह सब विस्थापित होकर वहाँ जा रहे हैं, जो अब हिन्दुस्तान कहलाएगा। कुछ पहुँचते हैं, तो कुछ रास्ते में ही ज़िंदगी की लड़ाई हार जाते हैं। जो पहुँच जाते हैं, वो पहुँच कर भी कहीं के नहीं होते। वे बस नहीं पाते। बस भटकते रहते हैं। और इस भटकाव की ही कहानी आगे के दो अध्यायों में है। इन पात्रों में से फ़ौजी, पन्ना, रायबहादुर का बेटा जयपाल, कर्तार सिंह, मास्टर फ़ज़ल का बेटा सलीम आगे के अध्यायों में धुँए की तरह दिखाई देते हैं, आसमान में रुलते हुए। अपनी पहचान को तलाशते हुए। यह दो भाग थोड़े घटना प्रधान हैं तथा पहले भाग की तुलना में कुछ तेज़ गति से चलते हैं। बूँदी में, लंदन में, सिक्ख दंगों में, करगिल में। वास्तव में गुलज़ार उस एक घटना की प्रतिछाया इन सबमें दिखाने की कोशिश करते हैं। पहले अध्याय में जो पात्र बाक़ायदा जीता-जागता जिस्म हैं, वो पात्र बाक़ी के अध्यायों में ऐसे लगते हैं, जैसे किसी भ्रम या माया से उत्पन्न पात्र हैं। जो हैं भी और नहीं भी हैं। जी रहे हैं लेकिन मरे हुए हैं। फ़ज़लदीन का बेटा सलीम, राय बहादुर के बेटे जयपाल से लंदन में मिलता है और उसीके साथ जयपाल कैम्बलपुर आता है। पहुँचता है अपने घर, जहाँ रहने वाले उसे संगे-मर-मर की एक तख़्ती सौंपते

हैं, जिस पर लिखा है 'राय बहादुर देसराज, कोठी नम्बर8, सिविल लाईंज़, कैम्बलपुर'। उसे याद आता है कि जब वे लोग कैम्बलपुर से ट्रक में बैठ रहे थे, तो पिता ने माँ से घर की चाबियों के बारे में पूछा था, उन्हें उम्मीद थी किसी दिन वापस लौटेंगे।

इन दोनों भागों में इसी प्रकार के बहुत संवेदनशील दृश्य आते हैं। एक रोंगटे खड़े कर देने वाला दृश्य मोनी का है। मोनी से जेल में मिलने जब सोनी आती है और पूछती है 'मोनी तुझे मालूम है तूने क्या किया है?' तो उत्तर में मोनी बहुत तीखा उत्तर देती है 'कैम्बलपुर में उसने इतने हिन्दू मारे थे। मैंने एक छोटा-सा मुसलमान मार दिया तो क्या हुआ?' यह पूरा दृश्य पाठक को स्तब्ध कर देता है। यह दृश्य भी और मोनी का उत्तर भी। इसी प्रकार 1984 के सिक्ख क़त्लेआम के भी दृश्य बहुत रोंगटे खड़े कर देने वाले हैं। यह कहानी तो हमारे समय की ही है, लेकिन उसके बाद भी ऐसा लगता है कि इतना कुछ हुआ था, और ऐसे हुआ था? 1984 पर इतनी बेबाकी से शायद पहले नहीं लिखा गया हो। दृश्य दर दृश्य उस पूरे घटनाक्रम को मानों गुलज़ार ने भागते हुए कर्तार की आँखों से पाठकों को दिखाया है।

जैसा कि गुलज़ार स्वयं भूमिका में लिखते हैं कि यह विस्थापितों की कहानी है। यह सचमुच विस्थापितों की कहानी है। और बहुत ज़रूरी कहानी है। यह उस उम्मीद की कहानी है कि किसी दिन वापस लौटेंगे। इसे गुलज़ार ने अपने ही तरीक़े से बहुत भावनाप्रधान ढंग से लिखा है। यह एक सम्पूर्ण आख्यात्मक उपन्यास है। मुकम्मल उपन्यास। जैसा कि गुलज़ार लिखना चाहते थे। उनके सारे पात्र बहुत कुशलता के साथ गढ़े हुए पात्र हैं। पात्र ज़िद्दी, फ़्रीकी, हठीले टाइप हैं। बहुत से पात्र होने के कारण पाठक कहीं-कहीं इसमें उलझता ज़रूर है कि कौन सा पात्र कहाँ, क्या कर रहा है। कई बार उसे मुड़कर पीछे जाकर पढ़ना पड़ता है कि पीछे कहाँ आया था यह पात्र। छोटा स्पेस और ज़्यादा पात्र होने के कारण यह उलझन सामने आती है। लेकिन इससे कोई ख़लल नहीं पड़ता। गुलज़ार ने पात्रों को पूरी तरह से खोला भी नहीं है। पात्र अधखुले तरीक़े से नमूदार होते हैं। कुछेक पात्रों के तो नाम भी इतने चुपचाप से ले लिए गए हैं कि पाठक आगे फिर से वही नाम आने पर, ज़रा सोच में पड़ जाता है कि यह नाम किसका है ? कुछ पात्र अचानक आते हैं, जैसे फ़ज़ल दीन का बेटा सलीम पहले भाग में नहीं है, लेकिन दूसरे ही भाग में लंदन में वह आ जाता है। पाठक का उससे पहला परिचय ही वहीं होता है। जबकि पहले भाग में फ़ज़ल दीन की अच्छी-ख़ासी कथा है। करम सिंह का परिवार कहीं नहीं पहुँचता, न उसके बारे में आगे कुछ पता चलता है। जबकि उपन्यास के प्रारंभ में लम्बे समय तक ऐसा भ्रम पैदा होता है मास्टर करम सिंह ही उपन्यास का कथा-नायक है। मगर बीच उपन्यास में उसका पूरा परिवार बस हवा में घुल जाता है, केवल पत्नी हरनाम कौर और मास्टर करम सिंह के बारे में पाठक को पता चलता है कि उनका क्या हुआ।

बीच-बीच में सवारियों की चर्चा में कुछ जगहों के नाम आते हैं जैसे हसन आबाद, मूसा ख़ैल, मियानवाली, ख़ोरदा, जी टी रोड, पुंछ, जम्मू, जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यह किस रास्ते से होकर जा रहे हैं। हालाँकि जो नाम आ रहे हैं, इनको गूगल अर्थ पर तलाशने पर ये नाम उस रास्ते में नहीं मिलते कहीं और मिलते हैं। हो सकता है लेखक ने स्मृति के आधार पर लिखा हो, या जगहों के नाम बदल दिए हों। मियानवाली दक्षिण पंजाब का एक ज़िला है और मूसा ख़ैल बलूचिस्तान का ज़िला है। हो सकता है कोई छोटे गाँव हों इन नामों के, किन्तु गूगल अर्थ पर ये नहीं मिलते। इसी प्रकार जो हसन आबाद नाम आया है शहर का, उस रास्ते में हसन अब्दल नाम का शहर पड़ता है। ख़ोरदा शहर भी नहीं मिलता है उस राह पर। नक़्शे के हिसाब से देखें तो कैम्बलपुर से पुंछ की जीटी रोड द्वारा दूरी लगभग 200 किलोमीटर है। इसी रास्ते पर यह ट्रक गुज़रता है।

उपन्यास 'दो लोग' किसी उदास धुन पर रचे गए शोक गीत की तरह गुज़रता है। उसमें काट जाने वाली उदासी लफ़्ज़-लफ़्ज बिखरी हुई है। शिल्प की दृष्टि से उपन्यास बहुत सुगठित उपन्यास है। कहानी इस प्रकार कही गई है कि पहले खण्ड में सब कुछ पास से दिखता है और उसके बाद में खण्डों में दूर से सब कुछ दिखाई देता है। मद्धम-मद्धम आँच पर पकी हुई यह रचना जब गुज़र जाती है तो स्तब्ध छोड़ जाती है। किसी भी लेखक के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होता है उसका पहला उपन्यास। और गुलज़ार का यह पहला उपन्यास तो उम्र के अस्सी बरस पूरे होने के बाद आया है, इसलिए इसका महत्त्व और बढ़ जाता है। हालाँकि अब तक कई फ़िल्मों की पटकथा, स्क्रीनप्ले वे लिख चुके हैं, जो भले ही उपन्यास नहीं हों मगर होता तो वैसा ही कुछ है। (मैंने अभी तक दो उपन्यास और दो फ़िल्मों की पटकथा-स्क्रीनप्ले लिखे हैं, इसलिए अनुभव से कह रहा हूँ।) कहानी का विस्तार, प्रज़ेंटेशन, ट्रीटमेंट आदि सब कुछ लगभग वैसा ही होता है। उस पर इनकी तो लिखी हुई सारी फ़िल्मों की पटकथा भी पुस्तकाकार रूप में सामने आ चुकी हैं। मगर फिर भी यदि इसे पहला उपन्यास माना जाए तो भी, यह विभाजन पर अपने तरीक़े से बहुत अलग ढंग से लिखा गया उपन्यास है। यह उपन्यास कोई स्थापना करने का प्रयास नहीं करता है। हो सकता है हिन्दी साहित्य की मुख्य धारा इस उपन्यास का उस प्रकार से स्वागत नहीं करे, जिस प्रकार करना चाहिए, मगर पाठक तो करेगा ही। उपन्यास में पाठक के लिए सबसे आवश्यक गुण भरपूर है, और वो है पठनीयता। पाठक को बस यही चाहिए होता है। बाक़ी टोटके तो आलोचकों, समीक्षकों के बौद्धिक आलेखों के लिए होते हैं। नए लेखकों को यह उपन्यास भाषा के संस्कार सीखने हेतु ज़रूर पढ़ना चाहिए, उपन्यास की तरह भी और किसी कोर्स बुक की तरह भी। यह भाषा का उपन्यास है।

अंत में उपन्यास का ही एक छोटा सा अंश जो 1984 के दंगों के दौरान किसी पात्र के द्वारा कहा गया एक पूरा संवाद है 'अभी तो कई बार ये मुल्क टूटेगा, जुड़ेगा। सदियों पुरानी आदत है हुकमरानों की। कोई दूसरा आ के जोड़ दे तो जोड़ दे, ख़ुद नहीं जुड़ेंगे। ख़ुद जुड़ के रहना है तो जम्हूरियत क्या है? सीखना पड़ेगा।' और गुलज़ार की ही दो पंक्तियाँ उनकी भूमिका से- हाथों ने दामन छोड़ा नहीं, आँखें की सगाई टूटी नहीं / हम छोड़ तो आये अपने वतन, सरहद की कलाई छूटी नहीं

❐❐❐

पीढ़ियाँ आमने-सामने

फुगाटी का जूता

आलेख : रमेश उपाध्याय

लेखक : मनीष वैद्य

प्रकाशन : बोधि प्रकाशन

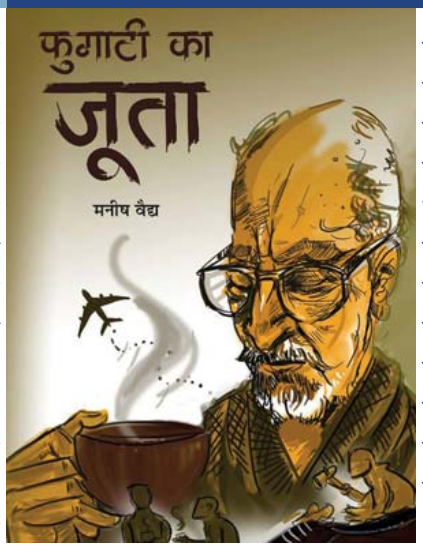

हिंदी कहानी में यथार्थवाद पर ज़ोर हमेशा से रहा है, लेकिन उसमें दो धाराएँ रही हैं, जिनमें से एक में सामाजिक यथार्थ पर और दूसरी में व्यक्तिगत अनुभव पर ज़ोर दिया जाता रहा है। एक धारा का विकास प्रगतिशील- जनवादी कहानी की परंपरा के रूप में हुआ है, जबकि दूसरी का अनुभववादी-कलावादी कहानी की परंपरा के रूप में। यथार्थवादी कहानीकार की नज़र अपने समय और समाज के सतत परिवर्तनशील यथार्थ पर रहती है और उसमें होने वाला परिवर्तन उसकी कहानियों का कथ्य होता है।

मनीष वैद्य का नया कहानी संग्रह 'फुगाटी का जूता' पढ़ा। कुछ कहानियाँ पत्रिकाओं में पहले भी पढ़ी थीं, लेकिन संग्रह में एक साथ कहानियाँ पढ़ने की बात ही कुछ और होती है। मनीष के पास लोक-जीवन से सहज संपृक्त क़िस्सागोई की कला है, जो कहानियों को पठनीय बनाती है। मनीष की कहानियाँ सामाजिक यथार्थ पर ज़ोर देने वाली प्रगतिशील-जनवादी परंपरा की यथार्थवादी कहानियाँ हैं और मेरे विचार से यह आज के बाज़ारवादी समय में एक बड़ी बात है। मनीष की कहानियों में मुझे इसी चीज़ ने सबसे ज़्यादा आकर्षित किया। मनीष अपनी प्राय: सभी कहानियों में सामाजिक यथार्थ में आ रहे किसी बदलाव की कहानी कहते हैं। मसलन, 'घड़ीसाज' में ''पुराने को नेस्तोनाबूद करते हुए'' बदलने वाले समय की कहानी; या 'फुगाटी का जूता' में अपने देसी दस्तकारों की हुनरमंदी की क़द्र करने वाले भारतीय समाज के भूमंडलीय बाज़ार के ब्रांड उत्पादों के अंध उपभोक्ता समाज में बदल जाने की कहानी; या 'काग़ज़ ही काग़ज़ में बोलता है' में मानवीय संबंधों के स्वार्थपूर्ण पूँजीवादी संबंधों में बदल जाने की कहानी; या 'अब्दुल मजीद की मिट्टी' में बाज़ारवाद के साथ-साथ बढ़ते संप्रदायवाद के कारण सामाजिक सद्भाव के नष्ट होने की कहानी; या 'खोए हुए लोग' में ज़मीन के एक टुकड़े के लिए सगे भाइयों तक के ''रिश्तों के मायने बदल जाने'' की कहानी।

इस प्रकार सामाजिक बदलाव के बिंदु पर यथार्थ को पकड़ना और उसकी कहानी कहना मनीष के लेखन की विशेषता है। लेकिन क्षमा करें, मनीष की ज़्यादातर कहानियों में सामाजिक बदलाव पुराने और नए अथवा अतीत और वर्तमान की तुलना करते हुए दिखाया जाता है; और यह तुलना कुछ इस तरह की जाती है कि जैसे बीता हुआ समय बहुत अच्छा था और आज का समय उसकी तुलना में बहुत ख़राब है। इस प्रकार लिखी जाने वाली कहानी इस अर्थ में तो यथार्थवादी होती है कि पढ़ने वाले को लगता है-''हाँ, ऐसा ही होता है'' या ''आजकल ऐसा ही हो रहा है'' और ''आज के ज़माने से तो गुज़रा हुआ ज़माना ही बेहतर था''! मगर मेरे विचार से यथार्थवादी कहानी पाठक से प्रामाणिकता का प्रमाणपत्र पाने या ऐसे निष्कर्षों तक पहुँचाने के लिए नहीं लिखी जाती। वह वर्तमान, यथार्थ को बदलकर बेहतर बनाने के उद्देश्य से लिखी जाती है और इसके लिए आवश्यक है कि कहानीकार के पास बेहतर दुनिया का एक भविष्य-स्वप्न हो, जिसके आधार पर वह वर्तमान यथार्थ को बदलने के उद्देश्य से उसकी आलोचना कर सके।

आप कह सकते हैं- भविष्य तो अनागत है और जो अभी आया ही नहीं है, वह यथार्थ कैसे हो सकता है? या, उसकी कल्पना के आधार पर यथार्थवादी कहानी कैसे लिखी जा सकती है? मगर ''जो है'' वही यथार्थ नहीं है, बल्कि ''जो होना चाहिए'' वह भी यथार्थ ही है। प्रेमचंद ने इसी को ''आदर्शोन्मुख यथार्थवाद'' कहा था और पश्चिम में इसी को आलोचनात्मक यथार्थवाद कहा गया है। अतीत की तुलना में वर्तमान की आलोचना भी एक यथार्थ को सामने लाती है, मगर उसकी दिक़्क़त यह है कि उसमें गुज़रे हुए ज़माने को आज के ज़माने से बेहतर बताने के लिए उसका आदर्शीकरण किया जाता है। लेकिन इस प्रकार उसे जितना अच्छा बताया जाता है, उतना अच्छा वह वास्तव में होता नहीं है। दूसरे, यदि उसे आदर्श मान भी लिया जाए, तो समस्या यह आती है कि हम न तो वर्तमान से अतीत में जा सकते हैं, न गुज़रे हुए ज़माने को वापस ही ला सकते हैं। समाज की गति और दिशा भविष्योन्मुखी है। यथार्थवादी साहित्य की गति और दिशा भी वही होनी चाहिए।

लेकिन यथार्थवादी लेखन का कोई फार्मूला नहीं हो सकता। पुराने प्रगतिशील-जनवादी लेखन में एक फार्मूला अपनाया गया था कि वर्तमान व्यवस्था को बदलने के लिए जनता संगठित संघर्ष करेगी; कि इस संघर्ष में जनता की विजय होकर रहेगी और उसके बाद क्रांति का लाल सूरज निकलेगा, एक नई सुबह होगी, एक नया ज़माना आएगा, एक नई दुनिया बनेगी, इत्यादि। स्थानीय और भूमंडलीय यथार्थ इस फार्मूले को बार-बार ग़लत साबित करता रहा है और हर बार कुछ नया सोचने और करने की चुनौती दुनिया के सामने पेश करता रहा है। लेकिन क्षमा करें, मुझे मनीष की 'ख़ैरात'

और 'ढोल' कहानियों में वही पुराना फार्मूला अपनाया गया दिखाई दिया। 'ख़ैरात' कहानी का अंत इस प्रकार होता है– –''कोदू ने नींद में कुछ शोर सुना तो हड़बड़ाकर उठ बैठा। उसने देखा, पौ फट रही है। आसमान लाल हो रहा है।'' और 'ढोल' कहानी का अंत इस प्रकार कि ''तानाशाह घबरा रहा था। उसे लगा कि अब जान बचाना मुश्किल है। बंदूकों की गोलियाँ ख़त्म होने लगीं, पर वे आगे बढ़ रहे थे। आगे और आगे।''

यह सच है कि जनता के संगठित संघर्ष से अन्यायपूर्ण व्यवस्था को बदला जा सकता है, लेकिन यथार्थवादी कहानी में यह सच किसी बने-बनाए फार्मूले के रूप में नहीं, बल्कि वास्तव में यथार्थ के बदलने या बदले जाने की प्रक्रिया में से स्वत: निकलकर आना चाहिए। यह प्रक्रिया लंबी और कठिन होती है। उसमें कई अंतर्विरोध और उतार-चढ़ाव होते हैं। कई बार पराजय का सामना भी करना पड़ता है। यह प्रक्रिया चाहे कहानी के पात्रों और परिस्थितियों के यथार्थ चित्रण से सामने आए अथवा कल्पना के आधार पर रची गई फैंटेसी या ऐलेगरी के ज़रिये, कहानी में यह प्रक्रिया होनी अवश्य चाहिए, क्योंकि यही कहानी को यथार्थवादी, विश्वसनीय, नई और प्रभावशाली बनाती है। फार्मूले वाली कहानी में क्योंकि गंतव्य पूर्वनिर्धारित होता है, इसलिए लेखक प्राय: उस तक पहुँचने की जल्दी या हड़बड़ी में रहता है, जिससे यह प्रक्रिया सीधी, सरल और छोटी हो जाती है। नतीजतन कहानी यथार्थ तथा यथार्थवाद से दूर चली जाती है।

मनीष की कुछ कहानियों में मुझे ऐसा भी लगा कि वो कहानी में उठाए गए मूल विषय पर ध्यान केंद्रित नहीं रख पाते हैं, जिससे कहानी का 'फोकस' बदलता रहता है। इससे कहानी में एकान्विति नहीं रहती और पाठक पर उसका अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे '...कि हरदौल आते हैं' कहानी में ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि मनीष, मामी के चरित्र पर संदेह की कथा कहना चाहते हैं, या राजा हरदौल की प्रचलित दंतकथा को अपने ढंग से लिखना चाहते हैं, या लोक-जीवन में आज भी हरदौल की उपस्थिति दिखाना चाहते हैं। संग्रह की अंतिम कहानी 'सुगनी' में तो बिलकुल ही पता नहीं चलता कि यह विधवा और अकेली लछमी कुम्हारिन की कहानी है, या डायन बना दी गई एक औरत की कहानी, या पुलिस की सुगनी कुतिया की कहानी।

प्रेमचंद की कहानी 'राजा हरदौल' में प्रेमचंद हरदौल की दंतकथा को यथावत प्रस्तुत करते हुए भी सामंती समाज में स्त्री के चरित्र पर संदेह किए जाने की बात पर ही अपना ध्यान केंद्रित रखते हैं, जबकि मनीष की कहानी में मामी के चरित्र पर संदेह किए जाने से संबंधित कोई घटना नहीं है, जिसके समानांतर राजा हरदौल की कहानी को रखा जा सकता। इसलिए मामी का दुख वास्तव में क्या है और राजा हरदौल की दंतकथा से उसका क्या संबंध है, स्पष्ट नहीं होता।

मनीष की कहानी 'सुगनी' पढ़ते हुए मुझे अपनी कहानी 'माटीमिली' याद आई। संयोग से 'सुगनी' की लछमी कुम्हारिन 'माटीमिली' की रधिया कुम्हारिन से काफी मिलती-जुलती है। दोनों जवानी में विधवा होकर गाँव में अकेली रह जाती हैं। अकेली औरत पर बहुतों की बुरी नज़र होती है, पर उसे वश में न कर पाने पर उसे चरित्रहीन बताकर बदनाम किया जाता है। इस मामले में लछमी और रधिया की कहानी समान है। लेकिन इसके बाद दोनों कहानियाँ बिलकुल अलग हो जाती हैं। लछमी अपनी परिस्थितियों से लड़ नहीं पाती, इसलिए गाँव वाले उसे बाहर खदेड़कर कडली डोकरी (डायन) बना देते हैं, जबकि रधिया अपने बल-बूते पर गाँव में रहती है और लड़ाकी रधिया बनकर अपनी तथा अपने बच्चों की रक्षा करती है।

डायन बना दी जाने वाली औरतों की समस्या भी एक बड़ी समस्या है और इसके ज़रिये भी सामाजिक यथार्थ को सोद्देश्य तथा प्रभावशाली ढंग से सामने लाया जा सकता है। (नाम याद नहीं आ रहे हैं, पर इस विषय पर हिंदी में कुछ कहानियाँ लिखी भी गई हैं।) लेकिन मनीष की कहानी में यह यथार्थ भी ढंग से उभर नहीं पाता, क्योंकि कहानी में 'फोकस' बदलता रहता है और आख़िर में तो इस हद तक बदल जाता है कि कहानी के केंद्र में लछमी कुम्हारिन या कडली डोकरी न रहकर पुलिस की सुगनी कुतिया आ जाती है और वह इतनी महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि कहानी का शीर्षक भी सुगनी हो जाता है!

कहानी में 'फोकस' जहाँ ठीक होता है, वहाँ विषय कोई भी हो, कहानी अपनी समग्रता में कलात्मक और प्रभावशाली बन जाती है। मसलन, मनीष की कहानी 'हरसिंगार-सी लड़की' का विषय (प्रथम प्रेम) इतना पुराना और प्रचलित विषय है कि इस पर असंख्य कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं। फिर भी मनीष की कहानी नई और कलात्मक बन पड़ी है। शायद इसीलिए इस कहानी ने मुझे सबसे ज़्यादा प्रभावित किया और इससे प्रेरित होकर मैंने फेसबुक पर लिखा था- प्रथम प्रेम अक्सर असफल प्रेम होता है। अक्सर एकतरफ़ा। लेकिन जिससे हम प्रेम करते हैं, वह उम्र भर के लिए हमारी स्मृति में बस जाता है। हमारी उम्र बढ़ती रहती है, और ज़ाहिर है कि उसकी भी, पर हमें जब उसकी याद आती है, हम और वह हमारी स्मृति में उसी उम्र के हो जाते हैं। जैसे एक क्षण समय के प्रवाह से छिटककर किसी कालजयी कलाकृति में बदलकर अजर-अमर हो गया हो।

इसका अर्थ यह नहीं है कि 'हरसिंगार-सी लड़की' आदर्श कहानी है और मनीष को ऐसी ही कहानियाँ लिखनी चाहिए। कहना मैं यह चाहता हूँ कि कहानी का विषय कुछ भी हो, उसका निर्वाह यथार्थवादी और कलात्मक ढंग से किया जाना आवश्यक है, जिससे वह पाठक को वांछित रूप में प्रभावित कर सके। और इसके लिए आवश्यक है कि कहानी में बदलते हुए यथार्थ को भविष्योन्मुखी दृष्टि से देखा और दिखाया जाए; फार्मूलों से बचकर अपनी सूझबूझ के मुताबिक परिवर्तन की प्रक्रिया को यथार्थ रूप में सामने लाया जाए; और विषय-चयन से लेकर उसके निर्वाह तक में कहानी की मूल समस्या पर ध्यान केंद्रित रखा जाए। मनीष की कहानियाँ पढ़कर भरोसा होता है कि मनीष में ऐसा करने की क्षमता है और वो अपनी इस क्षमता का विकास करते हुए एक बेहतर यथार्थवादी कहानीकार के रूप में उभर सकते हैं। शुभकामनाओं के साथ।

❐❐❐

107, साक्षरा अपार्टमेंट्, ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली 110063

विमर्श

दस प्रतिनिधि कहानियाँ

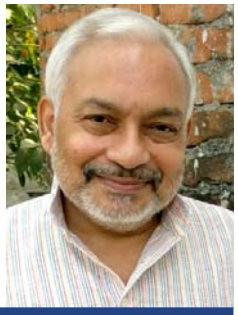

समीक्षक : डॉ. सुशील सिद्धार्थ
लेखक : सुधा ओम ढींगरा
प्रकाशक : किताबघर प्रकाशन

(व्यंग्यकार, कवि, ग़ज़लकार, संपादक, आलोचक डॉ. सुशील सिद्धार्थ ने किताबघर से प्रकाशित इस पुस्तक की भूमिका अपने असामयिक निधन से चार दिन पूर्व ही लिखी थी। यह भूमिका 13 मार्च 2018 को पूरी कर के उन्होंने पंकज सुबीर से शाम को मोबाइल पर बहुत थके स्वर में संक्षिप्त सी बात की और कहा कि दस कहानियाँ की भूमिका आज ही पूरी कर दी है। फिर उन्होंने इस भूमिका को ईमेल द्वारा इस संदेश के साथ भेज दिया था– 'चाहें तो सुधा जी को भेज दें।' और 17 मार्च 2018 को काल के क्रूर हाथों ने उन्हें हमसे छीन लिया। इस प्रकार इसे सुशील जी द्वारा लिखी गई अंतिम समीक्षा, भूमिका माना जा सकता है। वे कई दिनों से इस पर कार्य कर रहे थे।)

'विदेश प्रवास ने सोचने और समझने के नज़रिये को बहुत व्यापक कर दिया है। स्त्री हो या पुरुष सबके भीतर एक सी चेतना है और सभी पहले इनसान हैं और उसके बाद कुछ और...मानव जीवन की यहाँ बहुत क़द्र की जाती है। विदेश के परिवेश ने मानवीय भावनाओं को समझने और जानने के दृष्टिकोण में ही बहुत परिवर्तन ला दिया है।'

प्रस्तुत संकलन की एक कहानी 'काश! ऐसा होता' में आए ये वाक्य वस्तुत: कहानीकार सुधा ओम ढींगरा के रचनात्मक मानस को प्रकट करते हैं। सुधा की ख्याति ऐसे रचनाकार के रूप में है जिसने सांस्कृतिक और सामाजिक विभिन्नताओं का विश्लेषण करते हुए कथासूत्रों व चरित्रों को विस्तार दिया है। जिन 'प्रवासी रचनाकारों' ने हिंदी साहित्य में निरंतर हस्तक्षेप करते हुए बार-बार अपनी उपस्थिति का अहसास कराया है उनमें सुधा सर्वोपरि हैं। 'प्रवासी रचनाकार' कहकर एक अलग श्रेणी बनाई जाए या नहीं, यह लगातार बहस का विषय रहा है, लेकिन अब इस प्रयोग को आलोचकों और विश्वविद्यालयों ने एकेडमिक मान्यता प्रदान कर दी है। इसलिए, कहा जाना चाहिए कि हिंदी के प्रवासी कथाकारों में सुधा ओम ढींगरा एक महत्त्वपूर्ण नाम है।

'दस प्रतिनिधि कहानियाँ' पुस्तक सीरीज़ में सुधा ओम ढींगरा की उन कहानियों का चयन किया गया है, जिन्होंने पाठकों व आलोचकों को समान रूप से प्रभावित किया है। इस सीरीज़ का उद्देश्य भी यही है कि रचनाकार का प्रतिनिधि रूप पाठकों के सम्मुख आ सके। ज़ाहिर है इसके बाद उनके भीतर रचनाकार को समग्रता से पढ़ने की ललक उत्पन्न होती है।

सुधा की बहुत बड़ी विशेषता है कि वे अपनी कहानियों में अतीतजीवी नहीं हैं। कहानियों के पात्र स्मृतियों में जाते हैं, अतीत और वर्तमान की तुलना करते हैं, कुछेक बार मन में उभरते भावनात्मक संघर्ष का सामना करते हैं। मगर वे बीते समय के लिए रुदन नहीं ठानते। जीवन आगे ही बढ़ता है, इस वाक्य पर उनको पूरा विश्वास है।

अनेक प्रवासी लेखकों में विगत की वेदना इतनी अराजक होती है कि वह रचना का मानमर्दन कर देती है। भारत में ही, जो रचनाकार गाँव क़स्बे से महानगर आ बसे हैं उनमें से कुछेक कहानियों में बेमौके आँखें छलछलाते रहते हैं।....लेकिन सुधा इन प्रसंगों में बेहद संयमित हैं। भावनाओं के संघर्ष से वे नाटकीय स्थितियों को आकार देती हैं। भावनात्मक नाट्यस्थितियाँ इस संकलन की लगभग सारी कहानियों में हैं। कई कहानियाँ पढ़ने के बाद मन बहुत देर तक उनकी अन्तर्ध्वनियाँ सुनता रहता है। जितना व्यक्त हो चुका है उससे कहीं ज़्यादा प्रकट होने की प्रतीक्षा करता रहता है। दरअस्ल, तब वह रचना अपने संदर्भों और निहितार्थ के साथ पाठक की संवेदना में रचने-बसने लगती है।

यह आकस्मिक नहीं कि इन सारी कहानियों में केन्द्रीयता स्त्री की है। संघर्ष, प्रतिवाद, पीड़ा से जूझती स्त्री। यह देखकर अच्छा लगता है कि ये स्त्रियाँ फ़ैसले ले रही हैं। अंतरद्वंद्व तो है, मगर उससे उबर रही हैं। यह सच सुधा की लगभग सारी कहानियों में समाया है। उदाहरण के लिए इस संकलन की एक बेहद मार्मिक कहानी 'बेघर सच' के विश्लेषण से यह बात और रेखांकित होगी।

इस कहानी में मौजूद घर शब्द जाने कितने अर्थों /आशयों / अवधारणाओं के साथ पाठक के विचारों से टकराने लगता है। कहानी की नायिका रंजना और उसकी माँ सुनयना के वृत्तांत किसी अंत तक न पहुँच कर असमाप्त विमर्श का रूप धारण करने लगते हैं। रंजना ने पैतृक घर में परिवार के बुज़ुर्गों से पूछा था क्या यह घर मेरा नहीं है ? उसे तड़ाक-सा उत्तर मिला था, नहीं यह घर तेरे भाइयों का है। पति का घर तेरा होगा।

यह कहानी अपने शीर्षक से ही बहुवचनात्मक हो जाती है। 'बेघर सच' सभ्यताओं और संस्कृतियों के लम्बे इतिहास में सच प्राय: बेघर ही रहा है। झूठ बहुत सुविधा से अपने ठिकाने बना लेता है। स्त्री और पुरुष से निर्मित समाज में पुरुष वर्चस्व के कितने झूठ

सदियों से अपने ठिकाने बना कर स्त्रियों को ठिकाने लगा रहे हैं, इसे अब स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। स्त्री के अस्तित्व, आचरण चिन्तन और जीवन को लेकर झूठों के साम्राज्य सक्रिय हैं। आश्चर्य क्या कि सभ्यता में इतना आगे आ जाने के बावजूद स्त्री अपने हिस्से का सच पाने के लिए लगातार जूझ रही है।

इस कहानी में सुधा ने 'घर' शब्द को एक व्यापक अर्थ दे दिया है। कथा सारांश यह है कि रंजना बचपन से 'अपना घर' चाहती है। तमाम उपेक्षा के बीच माँ सुनयना देवी उसे समझाती है और घर में एक कमरा दिलवाती है। सबने कहा कि पति का घर स्त्री का अपना होता है।..पर माँ का अनुभव अलग था, पति का घर भी कभी औरत का नहीं होता, वहाँ भी उसे दूसरे घर की, पराए घर की ही कहा जाता है। सुनयना ने पति के घर में आकर सारी योग्यताओं के बावजूद अपना अस्तित्व खो दिया था। शादी के बाद रंजना, पति संजय के साथ न्यूयार्क आ जाती है। जब सुनयना बेटी की गृहस्थी देखने पहुँचती है तो उनकी मूर्तिकला और संगीत विद्या को नया जीवन मिलता है। माँ की बनाई कुछ मूर्तियाँ रंजना अपने घर में सजा लेती है। पति की व्यस्तता से ऊबी रंजना कलाओं की दुनिया में रुचि लेने लगती है। मूर्तिकार एम.सदोष की मूर्ति 'होमलेस आइज़' से प्रभावित होकर उससे पत्राचार करती है। किसी काम से कैलिफोर्निया गई रंजना एक प्रदर्शनी में सदोष की मूर्ति 'इन द आइज़ आफ टाइम' को ख़रीद लेती है। उसी समय संजय का फ़ोन आता है। उसे शक नहीं भरोसा था कि रंजना सदोष से मिलने ही कैलिफोर्निया गई है। घर लौटकर संजय अपनी कुंठाएँ खोलता है। घर मेरा है कहकर वह रंजना द्वारा करीने से सजाई मूर्तियाँ तहस-नहस करने लगता है। रंजना माँ की खंडित स्मृतियों को चादर में समेट कर आहत तन-मन के साथ संजय का घर छोड़कर एक खाली मकान में आ जाती है। वह खाली मकान जिसे अब रंजना घर बनाएगी।

ग़ुस्से में चिल्लाते हुए संजय कहता है, यह घर मेरा है, मैं सहन नहीं कर सकता कि मेरे घर में मेरे साथ रहकर तुम किसी और को चाहो ....। सुधा की टिप्पणी है- तिनका तिनका चुन कर नर मादा नीड़ बनाते है फिर वह नीड़ सिर्फ नर का कैसे हो जाता है ? यह सनातन प्रश्न है। जिस घर, सभ्यता संस्कृति और सृष्टि को बनाने सँवारने बचाने में स्त्री की बराबर की भूमिका है उसे वहीं से बेदखल किया जाता रहा है। इन सबका इतिहास जैसे औरत के विस्थापन का समानान्तर इतिहास है।

घर जैसे अपने होने का अनुभव करते हुए अपनी स्वतंत्रता क्षमता इच्छा से जीने का प्रतीक है। 'यह घर मेरा नहीं' कहानी में श्रीलाल शुक्ल इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं। 'बेघर सच' कहानी यह भी कहती है कि अपने घर में पुरुष स्त्री के साथ इस तरह रहता है कि स्त्री को भी अपना घर समझने लगता है। जैसे कोई यह तय करता है कि घर का नक्शा कैसा हो, रंग रोगन कैसा हो, फर्नीचर और सजावट कैसी हो, आदि आदि। इसी तरह पुरुष या मर्द तय करने लगता है कि 'स्त्री के वजूद' को अपने घर में कैसे बदला जाए, 'स्त्री रूपी घर' के विचारों का नक्शा कैसा हो आदि। 'स्त्री घर' का दरवाज़ा किसके लिए खुले, कौन सी खिड़की हमेशा के लिए बंद कर दी जाए इसकी चिन्ता मर्दवाद को हमेशा रही है। ग़ालिब ने भिन्न संदर्भों में कहा था 'बेदरो - दीवार का इक घर बनाया चाहिए।' पुरुष वर्चस्व शताब्दियों से स्त्रियों को बेदरोदीवार के घर में बदलता आया है।

आर्यसमाजी परिवार से आई सुनयना होम सांइस में एम.ए. और ललित कलाओं में प्रवीण थी। हुआ क्या। पति के घर में 'सितार, तानपूरा के तार टूट चुके थे और हारमोनियम माँ की तरह स्वर खो चुका था।' हमारा ध्यान 'स्वर खोना' के मुहावरे पर जाना चाहिए। यह सुधा का अचूक प्रयोग है; इसीलिए सुनयना अपनी बेटी रंजना का विवाह समझदार व्यक्ति से करना चाहती है 'जो तुझे प्यार करे तेरे गुणों, तेरी रुचियों की क़द्र करे। पति पत्नी के साथ-साथ तुम दोनों एक दूसरे के साथी बन सको।' यह अलग बात है कि ऐसा हो न सका! विवाह के वक्त दादी ने कहा था कि अब तुम्हारा अपना घर होगा। और रंजना ने भी सोचा था कि 'अब अपने घर को वह अपनी इच्छानुसार सजाएगी सँवारेगी।' घर सजता सँवरता रहा, जब तक सब संजय के मन मुताबिक था। जैसे ही रंजना के अस्तित्व ने पंख फैलाए कि ज़मीन से आसमान तक संजय की शंकाएँ, आपत्तियाँ काली छायाओं की तरह उड़ने लगीं। रंजना ने इस सीमा तक समझौता कर लिया था कि संजय की घोर आत्मकेन्द्रित जीवन शैली के बाद भी 'उसे संजय से कोई गिला नहीं था।' एकरसता और नीरसता से उकता कर रंजना कलाओं की दुनिया में आवाजाही कर रही थी। सदोष से परिचय के बाद वह उसे कविताएँ भेजती थी। उन पर सदोष मूर्तियाँ बनाता और उनके चित्र भेजता। रंजना संजय को वह चित्र दिखाती 'पर वह तो कंपनी के प्रेजिडेंट की कुर्सी देख रहा था, उसे वह सब दिखाई नहीं देता था।' सुधा ने सधे शब्दों में व्यक्त कर दिया है कि रंजना और संजय की दृष्टि कितनी अलग थी। दृश्य तो अलग थे ही। संजय विस्तार में लगा था, उसे रंजना का जीवन व्यर्थ लगता था। उससे सत्ता की कोई शाखा नहीं निकलती थी।

कैलिफोर्निया में मूर्ति खरीदने की घटना के बाद संजय को जैसे अपने ज़रख़रीद गुलाम पर गुस्सा आया। वह जिस तरह रंजना को अपमानित प्रताड़ित करता है उससे घृणा, उपेक्षा, क्रोध के जाने कितने चेहरे प्रकट होते हैं। यहाँ सुधा ओम ढींगरा के कुशल कहानीकार की प्रशंसा करनी चाहिए। संजय का क्रोध लगभग एकालाप में है। वह स्वयं आरोप गढ़ रहा है, फिर तर्क जुटा रहा है फिर विश्लेषण कर रहा है और अन्त में फ़ैसला सुना रहा है। सुधा ने बिना 'कथाकारीय हस्तक्षेप' के बता दिया है दोनों में संवाद की स्थितियाँ नहीं है। संजय के प्रलाप की शब्दावली भी ग़ौर करने योग्य है। वह झूठ, नफ़रत, यार, धोखा जैसे शब्द इस्तेमाल कर रहा है। वह पूछ नहीं रहा अपने स्वघोषित संदेह की पुष्टि बलपूर्वक रंजना से करवाना चाहता है 'तुम्हें मानना होगा कि तुम उसे चाहती हो ..मानती क्यों नहीं।' राम ने भी सीता से पूछा नहीं था स्वघोषित संदेह के आधार पर बेघर कर दिया था। रंजना ग़ुस्से और आक्रोश से भरकर कह उठती है, 'हाँ मैं उसे प्यार करती हूँ ....।' सुधा अर्थपूर्ण मिसाल देती है कि- 'मीरा को ज़हर का प्याला पीने के लिए दिया गया और उसने वह पिया।' इसके बाद 'अपने घर' में रखी मूर्तियों को

संजय ने ऐसे ध्वस्त किया जैसे रंजना के अस्तित्व को नेस्तनाबूद कर रहा हो। दिखा दिया 'उसके घर' में रहने वाली रंजना की हैसियत क्या है। ऐसी ही किसी समानान्तर स्थिति में मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' की सारंग अपने पति रंजीत से कहती है 'जिस घर की मिट्टी का रेशा-रेशा मेरे हाथों सजा सँवरा है जिसके आँगन में मेरे पाँवों के निशान जीवित हैं, विश्वास नहीं होता रंजीत कि एक पल में ही वह मुझसे कैसे छिन गया।' याद आ सकता है कि 'द सेकेंड सेक्स' से पहले 'शृंखला की कड़ियाँ' लिखने वाली महादेवी ने छायावादी वक्रता के साथ यही कहा था 'विस्तृत नभ का कोई कोना, मेरा न कभी अपना होना।' आज स्त्री विमर्श इस कथन से आगे बढ़कर प्रश्न पूछ रहा है। संजय के घर में या इस घर में रंजना की जगह कहाँ है? यह सवाल पूरी मार्मिकता के साथ सुधा पूछती है। और कहानी में जवाब देने का उत्तरदायी संजय कहता है 'सच तो मैं जानता हूँ। वह सच मैं तुमसे उगलवाना चाहता हूँ।'

सत्ता और प्रतिगामी शक्तियों की यह अटूट मूर्खता है कि उन्हें सच जानने का एकतरफा विश्वास होता है। सुधा लिखती है, 'किनारे पर खड़े होकर सच नहीं जाना जाता गहरे में डुबकी लगानी पड़ती है।' कहानी पढ़ते हुए भरोसा होता है कि सुधा ने मानव मन की गहराइयों में डुबकी लगाकर अपने कथ्य का विस्तार किया है। इसीलिए उन्होंने एक ऐसा यथार्थ समझा जिसे जानने का दावा बहुतेरे करते हैं, कहने का साहस बहुत कम जुटा पाते है। जिन सत्ताओं ने रंजना और सुनयना को पीड़ित किया वे हैं 'घर में कई सत्ताएँ थीं। पितृसत्ता दादीसत्ता और पिता जी की चाची।' और रंजना - 'बचपन से अब तक उसने माँ को उन सत्ताओं के आगे झुके हुए चकरघिन्नी सा घूमते ही देखा है। ... माँ की सारी इच्छाएँ और भावनाएँ कहीं गुम हो गई थीं।' सुधा की टिप्पणी को आत्म करती रंजना यह नहीं समझ पाती कि पुरुषवादी कुतर्कों को महिलाएँ भी मान रही हैं। कहानी परिवर्तित होती स्थितियों को भी लक्षित करती है।

'बेघर सच' स्त्री के भीतर संचरित सकारात्मकता को सलीके से रेखांकित करती है। जब सुनयना रंजना के पास विदेश पहुँचती है तो अवसर मिलते ही वह कैसे अपनी भावनाएँ मूर्तियों में व्यक्त कर देती है। एक मूर्ति में भँवर में डूबती महिला दोनों हाथ उठाकर अपनी बच्ची को बचा रही है। यह स्त्री की जिजीविषा है। और संजय द्वारा तोड़ी गई मूर्तियाँ- 'रंजना ने सब मूर्तियों को बड़े प्यार से सँभाल कर वैन में रखा टूटी हुई मूर्तियाँ भी उठाली। इन्हें लेकर वह अपने घर में आई'। 'अपने बेघर हुए सच और मूर्तियों की सुरक्षा के लिए उसकी दृष्टि चारों ओर घूम रही थी।' खंडित स्मृतियों, मूल्यों, विश्वासों को एक स्त्री ही सहेज, सँभाल सकती है। यही कारण है कि रंजना सोच रही है... उसका 'अपना घर' जिसमें वह रहेगी। रंजना के बहाने सुधा ने जाने कितनी स्त्रियों का सच लिख दिया है।

हिन्दी कहानी के वर्तमान परिदृश्य में सुधा ओम ढींगरा ऐसी ही कहानियों के कारण एक सम्मानित स्थान बना चुकी हैं। प्रचलित शब्दावली में वे प्रवासी लेखिका कही जा सकती हैं। लेकिन सही अर्थ में उन्हें व्यापक हिन्दी संसार की महत्त्वपूर्ण लेखिका मानना होगा। 'बेघर सच' इसका प्रमाण है। सुधा की भाषा व्यंजनाओं से समृद्ध और सहज है। जटिलताओं को व्यक्त करते हुए वे भाषा से प्राणायाम नहीं करती। शब्दों की साँसें सम पर रहती हैं।

यह बात किसी भी पाठक को आश्वस्त करेगी कि स्त्री जगत् की मार्मिकता, परेशानी और जद्दोजेहद को केंद्रीयता देने के बावजूद सुधा ने असंतुलन का परिचय नहीं दिया है। 'पासवर्ड' की तन्वी को साकेत जिस तरह सबक सिखाता है वह पढ़ने योग्य है। दरअस्ल, स्त्री विमर्श की सुविधा में बहुत बार यथार्थ का एक सेलेक्टेड रूप ही लेखक दिखाता है। जबकि गुण अवगुण दोनों तरफ़ हैं। एक रचनाकार को इसे समझना चाहिए। सुधा ने ग्रीन कार्ड पाने को आतुर तन्वी की दुरभिसंधियों को भलीभाँति चित्रित किया है।

'टॉरनेडो' में क्रिस्टी, जैनेफ़र, सोनल, वंदना जैसी भिन्न पीढ़ियों की स्त्रियों के भावनात्मक संघर्ष का वर्णन है। संस्कृति का टकराव है और निजी मान्यताओं का विवाद भी। ऐसी, और ऐसी अनेक, कहानियाँ साबित करती हैं कि प्रवासी लेखन बिलकुल एक अलग सच्चाई है। इसे हिंदी के वृहत्तर परिवार में परखा जाना ज़रूरी है।

'कमरा नंबर 103' में एक अजब समाजशास्त्र है। अमरीका में बाहर से आकर रह रहे कुछेक लोगों की नज़र में बूढ़े माँ बाप केवल उपयोग की वस्तु हैं। अक्सर वे बीवी की प्रेगनेंसी या बच्चों की देखभाल के लिए स्वदेश से लाए जाते हैं। काम निकलने या बिगड़ने के बाद माता-पिता अवाँछित हो जाते हैं। मिसेज़ वर्मा के बहाने लेखिका ने दहला देने वाला कथानक रचा है। यही उपयोगितावाद है। जो निरंतर भयावह हो रहा है।

'सूरज क्यों निकलता है' पढ़ते हुए अमेरिका की आर्थिक मंदी तो झलकती रहती ही है, प्रेमचंद की कहानी 'क़फ़न' भी याद आती रहती है। पीटर और जेम्स जैसे चरित्र अमेरिकी समाज का एक विरूप पेश करते हैं। ग़रीबी, भीख,लालसा,बेघरी को लेखिका ने बखूबी उभारा है। 'क्षितिज से परे' कहानी अमेरिकी भारतीयों की दास्तान है। प्रवंचित सारंगी किसी तरह अपने पति से मुक्ति पाती है। जब वकील सुबह वर्मा सारंगी से तलाक लेने की वजह जानना चाहती है तो सारंगी कहती है, '...औरत गृहस्थी को कभी तोड़ना नहीं चाहती, उसने बड़े प्यार और यत्न से उसे खड़ा किया होता है। जब उसके स्वाभिमान और सम्मान के चिथड़े उस गृहस्थी में रोज़ उड़ने लगते हैं तो वह उसे छोड़ने पर मजबूर हो जाती है।'

'वह कोई और थी' कहानी जैसे 'पासवर्ड' का एक दूसरा या पूरक वृत्तांत है। सुधा की कहानियों के सकारात्मक पात्र स्वाभिमान, सम्मान के लिए सचेत रहते हैं। अवसर आने पर निर्णय लेते हैं। अनिश्चित भावुकता में उलझ कर रोते झींखते नहीं। यह एक अच्छा लक्षण है, पाठक के दृष्टिकोण से। 'विकल्प' इस संकलन की स्तब्ध करती रचना है। परिवार में अवैध शारीरिक संबंधों के रहस्य जब उजागर होते हैं तब संपदा अवाक् रह जाती है। नीरा की विवशता और माँ बनने की उसकी इच्छा पाठक को सहानुभूति से भर देती है। यह रिश्तों का ऐसा अनिवार्य चक्रव्यूह है जिससे निकलना आसान नहीं।

'अनुगूँज' में प्रवासी जीवन का एक और दारुण पक्ष है। इसके केंद्र में दो स्त्रियों के दुख हैं। दुख क्या है? जेठानी गुरमीत

देवरानी मनप्रीत से घर के सदस्यों का सच बताती है,'इन्हें बहुएँ नहीं, नौकरानियाँ चाहिए। बहुएँ तो इनकी गोरियाँ हैं। नौकरानियाँ यहाँ महँगी पड़ती हैं। ये शादी की आड़ में हमें नौकरानियाँ बनाकर लाए हैं। भाग जा यहाँ से, वरना मेरी तरह रोज़ हड्डियाँ तुड़वाएगी।' बाद में गुरमीत की हत्या के बाद मनप्रीत का अंतर्द्वंद्व पढ़ने योग्य है, जिससे उबर कर वह सच का साथ देती है और हत्यारे को उसके अंजाम तक ले जाती है। यह भी एक साहसी और संकल्प से भरी स्त्री की गाथा है।

'काश ! ऐसा होता...' में दो संस्कृतियों का संघर्ष है। भारत और अमेरिका में स्त्री का अस्तित्व दो भिन्न व्याख्याओं के साथ बंधा है। विदेश की हाइडी आंटी और स्वदेश की माँ... दोनों का अकेलापन मारक है। आंटी शादी कर लेती हैं। माँ के लिए ऐसा सोचना भी पाप है। और हाइडी भी एक स्पष्ट निर्णय के साथ खड़ी है।

ये सारी कहानियाँ प्रवासी साहित्य को पूरी संवेदना के साथ व्याख्यायित करती हैं। हम रचनाकार के कृतित्व के साथ उसका व्यक्तित्व भी पढ़ते हैं इसलिए सुधा ओम ढींगरा के विषय में एक दो बातें बतानी ज़रूरी हैं। इससे उनकी कहानियों के अर्थापन में मदद मिलेगी। सुधा बहुत समर्पित और प्रसिद्ध समाज सेवी हैं। वे मनोवैज्ञानिक हैं। विदेश में रहकर प्रवासियों के हितों में लगी रहती हैं। उनको नित्य नए लोगों से मिलने का मौक़ा रहता है। स्वाभाविक है कि ये कहानियाँ अपनी संवेदनात्मक तीव्रता में इसलिए अद्भुत हैं क्योंकि इनकी जड़ें जीवनानुभव में हैं। सुधा बौद्धिक हैं, उनमें भावनात्मक संतुलन है, भाषा का विवेक है, संस्कृतियों के विवेचन का धैर्य है और मनुष्यता के श्रेष्ठ तत्वों को बचाने की ललक है। 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ' सीरीज़ में सुधा की कहानियाँ पढ़ते हुए पाठक ऐसा बहुत कुछ महसूस करेंगे।

-सुशील सिद्धार्थ

❐❐❐

प्रकाशन अधिकारी
किताबघर प्रकाशन
नई दिल्ली
ईमेल : sushilsiddharth@gmail.com

पुस्तक चर्चा

शब्द, शुद्ध उच्चारण और पदभार

समीक्षक : ज़हीर क़ुरैशी
लेखक: डॉ. आज़म
प्रकाशक: शिवना प्रकाशन

'आसान अरूज़' के लगभग साढ़े पाँच साल बाद शिवना प्रकाशन, सीहोर (म.प्र.) से एक और उपयोगी त्रिभाषी पुस्तक प्रकाशित हो कर आई है। पुस्तक को डॉ. आज़म ने शीर्षक दिया है- 'शब्द, शुद्ध उच्चारण और पदभार' 'अपनी बात' में डॉ. आजम ने 'शब्द, शुद्ध उच्चारण और पदभार'। पुस्तक पर काम करने के प्रयोजन के विषय में लिखा है कि 'अरूज़ तो आवाज़ पर ही निर्भर करता है। अगर शब्द ही अशुद्ध उच्चारित करेंगे तो उसके वज़्न यानी पदभार को अशुद्ध ठहरा लेंगे। उदाहरण के तौर पर शब्द है- 'तजरिबा', मगर हर कोई इसे 'तजुर्बा' बोलता है। दोनों शब्दों के पदभार अलग-अलग हैं। 'तजुर्बा' यानी अशुद्ध उच्चारण वाले पदभार का उपयोग करने पर शेर वज़्न से गिर जाएगा।'

इसी सिद्धान्त पर काम करते हुए डॉ. आज़म ने तीन भाषाओं (उर्दू, हिन्दी, इंग्लिश) में शायरी में प्रयुक्त किए जाने वाले लगभग 1700 शब्दों की डिक्शनरी प्रस्तुत की है। जिसमें उर्दू का सही शब्द, शब्द पुर्लिंग है या स्त्रीलिंग, उसका वज़्न यानी पदभार, अशुद्ध उच्चारण और अंत में हिन्दी, उर्दू, इंग्लिश तीन भाषाओं में उसका अर्थ दिया गया है। पृष्ठ क्रमांक 10 से ले कर पृष्ठ क्रमांक 102 तक पुस्तक में डॉ. आज़म ने लगभग 1700 शब्दों के शायरी के शब्द कोष को तरतीब दी है। इस तरतीब में हर शब्द का वज़्न यानी पदभार और शुद्ध उच्चारण के साथ-साथ अशुद्ध उच्चारण दिया जाना ही उसे आम 'शब्दकोष' से अलग करता है।

दोनों ओर से पढ़ी जा सकने वाली इस पुस्तक में 'शायरी के शब्द कोष' में दिए शब्दों के लगभग 10 प्रतिशत शब्दों यानी 170 शब्दों पर डॉ. आज़म ने बड़ा काम किया है। इसमें उर्दू का सही शब्द ले कर सबसे पहले उसका अर्थ बताया गया है। फिर सही शब्द का पदभार बताया गया है। अगर लोक में उसका अशुद्ध शब्द प्रचलित है, तो उसका भी पदभार बताया गया है। अंत में, किसी उस्ताद शायर का शेर उद्धृत करके सही शब्द के पदभार सहित उसका प्रयोग दर्शाया गया है। मेरे विचार से यह बड़ा और श्रम-साध्य काम है। 170 शेरों द्वारा दर्शाए गए इस काम के कारण ही उनकी हाल ही में प्रकाशित 'शब्द, शुद्ध उच्चारण एवं पदभार' पुस्तक का मूल्य एवं महत्त्व है।

हालाँकि शायरी के विशाल सागर से केवल 170 शेरों के उदाहरण दे कर शुद्ध उच्चारण एवं पदभार पर किए गए इस काम को प्रतीकात्मक ही माना जाना चाहिए। मज़ा तो तब था जब शायरी के शब्दकोष में पृष्ठ क्रमांक 10 से पृष्ठ क्रमांक 102 तक दिए गए सभी 1700 शब्दों को ही शेरों के उदाहरण दे कर उनके सही पदभार सहित समझाया जाता।

200 पृष्ठों की इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक में प्रूफ की ग़लतियाँ गिनी-चुनी हैं। लेकिन, शुद्ध उच्चारण को सिखाने वाली किसी भी पुस्तक में इतनी ग़लतियाँ भी नहीं होनी चाहिए।

❐❐❐

108, त्रिलोचन टावर, संगम सिनेमा के सामने,
गुरुबक्श की तलैया, पो.ऑ. जीपीओ, भोपाल-462001 (म.प्र.)
मोबाइल 09425790565 फोन: 0755-2740081
Email-poetzaheerqureshi@gmail.com

पेपर से पर्दे तक... (भाग-7)

सिनेमा एक कला और तकनीक

कृष्णकांत पण्ड्या

(कृष्ण कांत पण्ड्या एक जाने-माने फ़िल्म निर्देशक हैं, जिन्होंने पूर्व में कई फ़िल्मों में सह-सम्पादन का कार्य किया। पश्चात् सहायक निर्देशक के रूप में, 'थोड़ी सी बेवफाई', 'बुलंदी', 'अहिस्ता-आहिस्ता', 'दिल आख़िर दिल है', 'पिघलता आसमान', 'झूठा-सच', 'लव-86' जैसी फ़िल्में कीं।

फ़िल्म 'सूर्या' और 'पुलिस-पब्लिक' के मुख्य सहायक निर्देशक एवं 'हत्या' व 'थोड़ा तुम बदलो थोड़ा हम' के एसोसिएट निर्देशक के रूप में कार्य किया। उन्होंने भारतीय फ़िल्माकाश में बतौर निर्देशक अपनी पहली ही फ़िल्म 'पनाह' में एक सशक्त व संवेदनशील फ़िल्मकार की जगह स्थापित कर ली। तत्पश्चात् फ़िल्म 'बेदर्दी', 'क्योंकि हम दीवानें हैं' (रिलीज बाकी) निर्देशित की। इसके अलावा उन्होंने कई टीवी सीरियल्स का भी निर्देशन किया, जिनमें 'पृथ्वीराज चौहान', 'जय श्री कृष्ण' और 'चितौड़ की रानी पद्मीनी का जौहर' प्रमुख हैं।

हालिया उनकी निर्देशित-सम्पादित-पट्कथा लिखित फ़िल्म 'बियाबान-द कर्स बाम विमन' को राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय फ़िल्म फेस्टिवल्स में काफी पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। जिसकी कहानी-संवाद एवं एक गीत पंकज सुबीर ने लिखे हैं। हाल ही में श्री पंड्या ने दो लघु फ़िल्में बनाई हैं। जिनमें से एक फ़िल्म के लिए उनको दो अन्तर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोहों में पटकथा एवं 'ऑनरेबल जूरी मेन्शन् निर्देशन' के अवार्ड मिले हैं। यह विश्व प्रसिद्ध लेखक ओ. हेनरी की कहानी पर 'ढिंचाक चोर' नाम से है। दूसरी उनकी ही कहानी, 'अधूरा अन्तरिक्ष' पर है।)

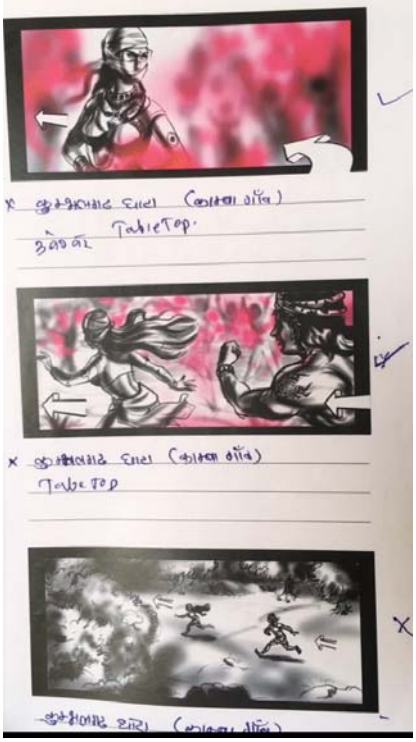

प्रिय पाठकों, पिछले अंक में किन्हीं कारणों से स्टोरी बोर्ड के चित्र लेख में नहीं आ पाए थे उसके बारे में पुन: मैं आपको बता दूँ। स्क्रिप्ट के लेखन के साथ-साथ हर सीन के शॉट्स की फ्रेमिंग के स्केच तैयार किए जाते हैं। कौन सा पात्र कैमेरा की फ्रेम में किस पोजिशन में है और केमेरा भी किस कोण और किस केलिबर के लेंस के साथ है। इस कार्य को स्टोरी बोर्ड बनाना कहते हैं।

इससे पूरी फ़िल्म की दृश्यावली का अन्दाजा मिल जाता है और ये भी कि हर सीन के कितने शॉट्स होंगे। शॉट्स के बारे में वापस बता दूँ। किसी भी दृश्य का वो हिस्सा या टुकड़ा जब कैमेरा शुरू होता है और बन्द होता है। इसे और इस तरह समझें कि जब डायरेक्टर सीन के एक हिस्से की भावना, सम्वाद या किसी चरित्र की क्रिया या प्रतिक्रिया कैमेरे में लेता है, उसे शॉट कहते हैं। ये शूट शब्द की हो चुकी या होने वाली क्रिया है। अब ये शॉट एक बार में सही हो जाय या 10-20-30 या इससे भी ज़्यादा बार में ओके हो जाए, ये काफी कारणों पर निर्भर करता है। जिसे मैं आपको जब हम प्रोडक्शन के अध्याय में आएँगे तब और बारीकी से बताऊँगा। और इसी 1-10-20-30 को 'टेक' कहते हैं। मतलब 'लेना'।

स्टोरी बोर्ड के साथ दिए इस फोटो में सीन के 3 फ्रेम हैं। ये सिर्फ उदाहरण स्वरूप हैं। फोटो नम्बर 1 में लड़की के पीछे लड़का भाग रहा है। अब कोई भी किसी के पीछे एक ही कारण से भागेगा, चोरी। अब चोरी या तो वस्तु की हो या दिल की। हा हा हा हा! अब आप भी मुस्कुरा दीजिए, आपका क्या जाएगा, इतनी गंभीरता भी ठीक नहीं, ये बोझ है। हाँ तो, फोटो नम्बर 1 की पहली कैमेरा फ्रेम में हमने सिर्फ लड़की को सामने से भागते हुए दिखाया है, जो कि करीब फुल फिगर में है। अब स्टोरी बोर्ड की इस फ्रेम का मतलब है कि अमुक दृश्य को प्रभावी तरीके से फ़िल्माने के लिए पहला शॉट इस तरह की मूवी फ्रेम बनाकर लिया जाएगा। इस फ्रेम में पीछे लोग धुँधलके में नाच रहे हैं, तो कैमेरा में लेंस ऐसा लगाकर शॉट लिया जाएगा कि जससे उपरोक्त फ्रेम जैसा दिखे फ्रेम की पृष्ठभूमि इसलिए धुँधली रखनी है कि जिससे दर्शक भागती हुई लड़की पर फोकस कर सकें जो फ्रेम में आगे की तरफ दिख रही है। फ्रेम में जो दिख रहा है उसी की वृहदाकृति पर्दे पर नज़र आएगी। ऐसे ही दूसरी फ्रेम में लड़की के करीब लड़का दौड़ रहा है, लड़की के पीछे। इस फ्रेम में दोनों के शरीर का आधा भाग ही दर्शाया गया है। और पार्श्व में लोग नाच रहे हैं। अब तीसरा फ्रेम में कैमेरा कहीं ऊँचाई पर रखा गया है, अब चाहे वो क्रेन पर हो, पहाड़ी पर हो या पेड़ पर, जो भी सुविधाजनक हो और प्रभावोत्पादक हो, इन तीनों फ्रेमों में कार्य एक ही है भागने का, पर कैमेरा तीन स्थानों में तीन प्रकार के लेन्स द्वारा रखा गया है। तीसरी फ्रेम के पार्श्व में नाचने वाले लोग नहीं हैं, क्योंकि भागने वाले लड़का लड़की नाच वाले स्थान से जा चुके हैं। ये तीन हिस्से तीन शॉट कहलाएँगे। पर सीन पूरा नहीं हुआ है। सीन

तो नाचगाने, उनकी बातचीत से शुरू होकर, भागने से लेकर कहाँ-कहाँ जाएगा ये सब स्क्रिप्ट में लिखा होता है। इस प्रकार पूरी फ़िल्म में ऐसे 1000, 2000 या ज़्यादा शॉट्स हो सकते हैं। एक्शन यानी की मार-धाड़ वाली फ़िल्म में और ज़्यादा। तो यह तो हुआ फ़िल्म के लेखन और स्टोरी बोर्ड के बारे में।

फ़िल्म के गानों की रिकार्डिंग और उनके निर्माण के बारे में पिछले अंक में मैंने आपको जानकारी दी और व्यक्ति के स्वभाव की मधुरता के आठवें सुर के बारे में भी। फ़िल्म निर्माण के पहले पड़ाव का अगला चरण है रैकी, मतलब फ़िल्म की स्क्रिप्ट के हिसाब से दृश्यों के लिए स्थानों का चयन, इसके लिए पूरी स्क्रिप्ट के दृश्यों के स्थानों की, समय की, मौसम की और कलाकारों की सूची बनाई जाती है जिसे Script - break down कहते हैं। पूरी फ़िल्म के करीब 50 से 100 सीन होते हैं। अब इसके बाद किस-किस स्थान, यानी की Location पर पूरी स्क्रिप्ट के कितने सीन हैं उसका Break down बनाया जाता है। जैसे कि घर के अन्दर के पूरी फ़िल्म के सीन, उसमें भी घर के लिविंग रूम के, बेड रूम के, किचन के, छत के सारे सीन एक ही शेड्यूल में ले लिए जाते हैं। अच्छे बजट की फ़िल्मों में बेडरूम, बाथरूम के बडे-बड़े सेट लगाए जाते हैं। हालिया प्रदर्शित फ़िल्म 102 not out (अमिताभ बच्चन और ऋषि कपूर अभिनीत) में पूरे घर के मुख्य भाग, यानी कि हाल, सीढ़ी, कारीडोर आदि का एक सेट है। फिर दोनों कलाकारों के बेडरूम हैं और ऋषि कपूर के बाथरूम का या तो सेट है या फिर किसी बंगले के बाथरूम में सीन किया होगा, जो घर के सेट के डिज़ाइन और समय के अनुरूप हो। फिर घर का बाहरी हिस्सा कहीं और जगह शूट किया होगा। ये सभी अलग-अलग लोकेशन अलग-अलग शेड्यूल में पूरी की गई होंगी। और ये सब कलाकारों की डेट्स के कॉम्बिनेशन को लेकर निश्चित किया जाता है। इसका अन्दाज़ा डायरेक्टर लगाता है कि कौन सा सीन कितने समय में होगा। अब अगर एक दिन में एक सीन होता है और कुल 3 सीन अमुक लोकेशन के हैं, तो बड़े और बुज़ुर्ग कलाकारों के लिए 4 दिन का शेड्यूल बनेगा। इस सारे प्रोग्रामिंग में फ़ोटोग्राफर की राय भी ली जाती है। सेट अगर बड़ा है तो उसे लाइट्स फिक्स करने में और आवश्यक मूड लाइट करने में जो समय लगेगा उसका ध्यान रखा जाता है। साथ ही हर शाट के बाद दूसरे शाट की लाइटिंग में भी कभी-कभी एक घंटे से लगा कर तीन-चार घंटे भी लगते हैं। इसके अलावा कलाकारों के मेकअप और गेटअप का समय भी अति आवश्यक है। 102 not out में अमिताभ बच्चन 102 साल के वृद्ध के रूप में हैं और ऋषि कपूर 75 साल के उनके पुत्र के रूप में हैं, तो इनके दाढ़ी, मूँछ, विग और मेकअप में करीब 2-3 घंटे लगे होंगे। ऐसे ही पूरी फ़िल्म की स्क्रिप्ट की सभी लोकेशन के सभी सीन को एक-एक शेड्यूल में पूरा किया जाता है, जिससे उस लोकेशन पर बार-बार आकर समय की और पैसों की बर्बादी न हो। किसी फ़िल्म में आउट-डोर यानी की मुम्बई वालों के लिए मद्रास, ऊटी, काश्मीर, शिमला आदि आउट-डोर है, तो पूना वालों या मद्रास वालों के लिए मुम्बई आउट-डोर है। आउट डोर यानी की घर के बाहर जहाँ सारी व्यवस्था करनी पड़े। अब अगर पूरी फ़िल्म की टीम मुम्बई में रहती है और शूटिंग काश्मीर या स्विटजरलेंड में करनी है तो वहाँ जितना काम स्क्रिप्ट के हिसाब से है, उतनी ही शूटिंग यूनिट यानी की टीम को निर्माता मुम्बई से लेकर जाएगा। वहाँ रहने, खाने, शूटिंग की जगह पर जाने-आने का सारा खर्च और पूरी व्यवस्था वो करेगा। ये सारा खर्च इन सब की फीस या मेहनताने के अलावा होता है। अब बाराती तो बाराती ही होते हैं, पर जब दूल्हा यानी कि निर्माता हिट फ़िल्म रूपी धन दुल्हन को लेकर आता है, जो कि मालिक होता है, तो सारा फ़ायदा तो वही लेगा और बाराती बेचारे अपने-अपने घर और निर्माता दुनिया भर से उस फ़िल्म पर हमेशा-हमेशा के लिए पैसा कमाता रहेगा...। पर, अगर, फ़िल्म नहीं चली तो सब ख़तम... पर, हाँ, कुछ अच्छे व्यापारी निर्माता देर से सही पर फ्लॉप फ़िल्म से भी पैसा कमा लेते हैं।

हाँ, तो मैं वापस मुख्य सड़क पर आऊँ। इस तरह रैकी करके आने के बाद डायरेक्टर लोकेशन फाइनल करता है। फिर निर्माता अपने डिपार्टमेन्ट के लोगों के साथ बैठ कर बजट तैयार करता है। उसके साथ उसका अकाउन्टेन्ट, उसके सहनिर्माता, कार्यकारी निर्माता और अगर हुए तो पार्टनर और मुख्य सहायक निर्देशक होते हैं। सब मिलकर सुविधा पूर्वक और कसे हुए बजट में कैसे अच्छा काम करना ये तय करते हैं।

इसका एक अनुभव आप से साझा करता हूँ। मसूरी में फ़िल्म पुलिस-पब्लिक की शूटिंग करनी थी। उसमें बारिश के सीन और एक गाना था। क्योंकि बारिश की पूरी व्यवस्था मुम्बई से ही करनी थी, जो कि बहुत ही खर्चीली थी; इसलिए जो शेड्यूल मैंने पहले बनाया था उसमें बारिश के दृश्यों की शूटिंग में 2-3 दिनों का अन्तराल था। वो मैंने कलाकारों की डेट्स के हिसाब से बनाया था, पर जब कार्यकारी निर्माता ने उस शेड्यूल की बजटिंग की तो वो ज़्यादा खर्च वाला हो रहा था। मैंने उसे वापस बनाया, जिसमें बारिश का सारा काम दो दिनों में पूरा हो रहा था। वो करके उनका पेकअप कर दिया और मुम्बई भेज दिया वापस, जिससे आठ लोगों का खर्च और उतने दिनों का उनका पैसा बच गया। इसी तरीके से कभी-कभी रोज़ाना की बड़ी फीस वाले कलाकारों का काम पहले ख़त्म करके उन्हें भेज दिया जाता है। अगर 5 हज़ार लोगों की भीड़ का सीन होता है तो उस भीड़ के साथ के सारे शॉट्स उस सीन के सभी कलाकारों के साथ के पूरे दिन में ले लिए जाते हैं और बग़ैर भीड़ के उस सीन के शॉट्स दूसरे दिन ले लिए जाते हैं। ये शेड्यूल बनाते समय ख़याल में रखना होता है जो कि निर्देशक की देख-रेख में आजकल स्टोरी बोर्ड बना कर होता है, जबकि मैंने ये कार्य सीन में ही सोचकर शॉट्स डिवीज़न करके दिमाग़ में रखकर किए हैं और वो भी तब, जब स्क्रीन मॉनिटर का उपयोग शुरू नहीं हुआ था। स्क्रीन मॉनिटर का मतलब है जिसमें आज के डिजिटल फ़िल्म कैमेरा का कनेक्शन टी.वी. जैसे मॉनिटर से किया जाता है, जिससे लिए जाने वाले सीन के शॉट (टुकड़े) को टी.वी. पर देख कर सही ग़लत का निर्णय किया जाता है।

पूरी फ़िल्म की अन्दाज़न बजटिंग की जाती है जिसमें फ़िल्म के सभी कलाकार, संगीत, गीत, लेखन, शूटिंग, साउन्ड, एडिटिंग, पोस्ट प्रोडक्शन, ग्राफिक्स,

स्पेशियल इफेक्ट्स, डिज़ाइन, पब्लिसिटी (जो आज के दौर में बहुत महँगी है।), मेकअप, कॉस्ट्यूम, डिज़ाइनर, यानी कि आप फ़िल्म के शुरू और आख़िर में नामों की जो लम्बी-इ-इ-इ सूची देखते हैं, उस सभी के पेमेन्ट को जोड़ कर। जब फ़िल्म की अन्दाज़न बिक्री उस बजट से ज़्यादा दिखती है तब निर्माण हरी झंडी दिखाता है वर्ना पीली लाइट लाल हो जाती है। इस सारे कला के खेल में ज़बरदस्त राजनीति और टाँग ख़िचाई चलती है। जिससे अच्छी भली 'पेपर से पर्दे तक' की मेहनत पेपर पर ही रह जाती है, और कभी-कभी तो सिर्फ पर्दे तक पहुँचते-पहुँचते रुक जाती है, किसी भी स्टेज पर बन्द भी हो जाती है। फ़िल्म इन्डस्ट्री में शायद ही कोई हीरो या कलाकार होगा या कोई डायरेक्टर होगा जिसकी फ़िल्म की लाइट हरी से पीली और पीली से लाल नहीं हुई हो?

हुआ था, ऐसा मेरे साथ भी हुआ था। हाँ, ये साँप-सीढ़ी का साँप 98 पर भी काटा है और बार-बार काटा है, अब भी काट रहा है, पर अब हमने भी शिव बनना सीखना शुरू किया है। हुआ यूँ था कि मेरी दूसरी फ़िल्म बेदर्दी के पूरा होते-होते नसीरूद्दीन शाह, अजय देवगन ने अगली फ़िल्म के लिए हाँ कर दी थी और उस कहानी में राजकुमार साहब को भी लेने की कवायद करीब-करीब पूरी हो चुकी थी। मैं निर्देशक के नाते लेखक दिलीप शुक्ला और निर्माता द्वय लॉरेन्स-मनोहर में से लॉरेन्स के साथ डलहौजी कहानी सुनाने गया था। राजकुमार साहब ने कहानी सुनकर कुछ शंकाओं का समाधान करने को कह कर फ़िल्म करने को हाँ कह दिया था। फ़िल्म इन्डस्ट्री का ये उस समय का सबसे बड़ा प्रोजेक्ट था- राजकुमार, नसीरुद्दीन शाह और अजय देवगन। ये उस समय के फाइनेन्सर दिनेश गाँधी प्रजेन्ट करने वाले थे, पर उन्हीं के साथ के दूसरे, तब के निर्माता, निर्देशक ने उन्हें ये कह कर डरा दिया कि राज साहब वृद्ध हो चुके हैं (जबकि वो तब भी पूरी तरह सक्रिय थे।) और अफवाह फैला कर मेरे उनकी स्पर्धा में आ जाने के डर से उन्होंने वो प्रोजेक्ट बन्द करवा दिया। उस फ़िल्म का नाम 'अदावत' रक्खा था, न्यूज़ भी आ चुकी थी। तब इस तरह मात्र स्पर्धा की वजह से उस नामी निर्माता-निर्देशक ने मेरे साथ एक पक्षीय अदावत निभाई और अब ईश्वर उनसे निभा रहा है।

ऐसे ही एक अति महत्त्वाकांक्षी कार्यकारी निर्मात्री ने अपने पति को उसी निर्माता की कम्पनी में बतौर निर्देशक लगवा कर मेरी फ़िल्म को बन्द करवा दिया जो मेरे साथ फ़िल्म शुरू करने वाला था। पेपर पर सारी फ़िल्म आ चुकी थी, मुख्य कलाकार साइन हो चुके थे। बस मैं 15 दिनों के लिए उदयपुर गया था। और एक साँप मेरी वापसी पर काटने को तैयार था। जब वापस आया तब उसके मुहूर्त पर मुझे भी बुलाया, जहाँ खूब खर्चा करवा कर आतिशबाजी वाला मुहूर्त करवाया गया। मैं ठगा-सा देखता रहा। बस वो मुहूर्त पर ही रुक गई उस अति महत्त्वाकांक्षी औरत के पति की फ़िल्म। उसी निर्माता के वहाँ मैं बतौर निर्देशक दोबारा गया। तब उस औरत ने ही कहा मुझे कि किशन जी आप तो अजय देवगन के साथ फ़िल्म का प्रोजेक्ट कर सकते हैं, उस निर्माता ने भी कहा कि अजय को तैयार कर लीजिए और मैंने कड़ी मेहनत करके अजय से 'हाँ' करवाई। बात उसको साइन करने तक की हो गई, पर वो निर्माता अजय के ऑफिस से उसे साइन किए बिना ही वापस आ गया। बहुत दिनों तक मैं पता लगाने की कोशिश करता रहा, कि क्यों वो फ़िल्म शुरू नहीं कर रहा पर वो निर्माता मुझे टालता रहा। एक दिन जब मैंने अड़ कर पूछा तो उसने कहा कि अभी अजय देवगन की फ़िल्में चल नहीं रही हैं और मेरी 'बेदर्दी' फ़िल्म उनके हिसाब से कमज़ोर रही तो हम दोनों का कॉम्बिनेशन, मार्केट में कमज़ोर है। मैं इस साँप से दंग रह गया ये जानकर कि भाई आपके ही कहने पर मैंने उस हीरो को आपके लिए 'हाँ' करवाया और अब आप ही उसके लिए मना कर रहे हैं। मैं उस महिला को देखता रहा जो अपने पति को फ़िल्म नहीं दिलवा पाई तो मुझे भी डस लिया।

इसे समय का खेल कहें या अपनी कोई कमी कि साँप डसते रहे और हम तजुर्बों की सीढ़ी चढ़ते रहे। सनी देओल, आमिर ख़ान, गोविन्दा, अक्षय कुमार और कितने ही कलाकारों के साथ अलग-अलग निर्माताओं के साथ फ़िल्म प्रोजेक्ट बनते रहे और बिगड़ते रहे। कभी बातचीत के बाद अटके तो कभी पेपर पर, कभी साइनिंग पर तो कभी बन कर। यहाँ मैं आपको 'साइनिंग' के दस्तूर के बारे में बता दूँ। ये फ़िल्म लाइन का बहुत ही प्रसिद्ध शब्द है। निर्माता जब किसी बड़े कलाकार या डायरेक्टर या फ़िल्म निर्माण के किसी भी डिपार्टमेन्ट के प्रमुख व्यक्ति को टोकन के रूप में कुछ धन-राशि देकर अनुबन्धित कर लेता है, तो कहते हैं फलाँ निर्माता ने फलाँ व्यक्ति को साइन कर लिया है, मतलब कि अब फलाँ फ़िल्म बनना प्रारंभ हो गई है। इसमें अब वो टोकन राशि हज़ारों से लगाकर करोड़ों तक की भी हो सकती है और पार्टनरशिप के डॉक्यूमेन्ट्स पर भी साइन करके हो सकती है। ज़ुबान से भी होती है। हाँ जी, इस लाइन में अगर आपके सम्बन्ध याराना जैसे हैं, तो लेन-देन बगैर काम हो जाते हैं और फ़िल्म पूरी बन भी जाती हैं। हिसाब फिर कभी हो जाता है। बस जो बिक रहा है उसका हाथ किसी के भी कंधे पर आ गया तो उसकी झोली भरनी शुरू हो जाती है- और अगर हाथ किसी कारण से बीच में उठ गया तो फिर शिवजी की तीसरी आँख को बन्द करने में हाथ-पैर जोड़ते रहो।

मौका तो हमने शाहरुख ख़ान के साथ भी निकाला था। कहानी तैयार हुई, हमें पहले ही साइन कर लिया गया था। शाहरुख से मुलाकातें होने लगीं और उसने फ़िल्म करने को हाँ भी कह दिया। उसने निर्माता को इशारे में कहा कि कि उसे एक गाड़ी खरीदनी है; इसलिए उसे गाड़ी का सारा नहीं पर थोड़ा अच्छा साइनिंग दे दे। जब शूटिंग की डेट्स देने को उसका सेक्रेटरी आया तब कार्यकारी निर्माता ने उसे एक तिहाई पैसा ही देने को कहा वो भी साइनिंग का। दिमाग़ किसी का भी ख़राब होगा ही। उसने फ़िल्म करने को मना कर दिया। कोई समझदार व्यक्ति निर्माता की चिन्दी गिरी को एक ही बात में भाँप लेता है, क्योंकि निर्माता खर्च करने में अगर दिलदार ना भी हो पर यदि वो किफायती भी है तो इस कला के निर्माण के दौरान माहौल अच्छा रहता है और बरकत भी रहती है। इससे भी थोड़ा बड़ा साँप तब काटा जब एक फ़िल्म रिलीज़ के लिए तैयार थी, पर क्योंकि निर्माता ने जिन फाइनेन्सरों से रुपये लेकर फ़िल्म बनाई थी

और चार साल तक अपने भरे पूरे परिवार और अपने ऑफिस का खर्चा चलाया था तो फ़िल्म से जो पैसा आता वो ब्याज के साथ फाइनेन्सरों को वापस देना पड़ता और उतना पैसा फ़िल्म को बेच कर उसे मिलने वाला नहीं था, इसलिए उसने उस फ़िल्म को रिलीज़ ही नहीं किया। उसने 4 साल मस्त खा-पी कर निकाल लिए। उस फ़िल्म में सब नए कलाकार थे और उस निर्माता ने उन लड़कों के पिताओं से रुपये लेकर फ़िल्म बना दी थी। वो बेचारे ठगे-से रह गए, मेरी आधी फीस भी वो खा गया और भी लोगों के रुपये खा गया और मेरी और सभी की सारी क्रिएटिविटी बेकार कर दी, सोचिए रिलीज़ को तैयार फ़िल्म पे वो साँप बनकर बैठ गया है। ऐसे निर्माताओं को किचन चलाने वाले निर्माता कहते हैं। ऐसे ही कुछ कुकुरमुत्तों की तरह उगने वाले हीरो लोग भी बड़े अवसरवादी होते हैं, जो फ़िल्में साइन कर लेते हैं और जब किसी बड़े निर्माता, निर्देशक और स्टार के साथ उनको फ़िल्म मिल जाती है, तो साइन की हुई फ़िल्मों को छोड़ देते हैं चाहे उसके निर्माताओं के लाखों रुपयों का नुकसान हो जाए।

सन् 2006 में मैं एक सच्ची कहानी पर लिखे गए उपन्यास पर फ़िल्म निर्देशित कर रहा था। उसकी कहानी एक हीरो को जब सुनाई तो वो खुशी से उछल पड़ा और कहा कि, ''सर, ये होती है कहानी''। उसे साइन कर लिया गया और फ़िल्म शुरू हो गई, शूटिंग शेड्यूल प्रारम्भ कर लिया दस दिन की शूटिंग पूरी हो गई और दो दिन की शूटिंग उस हीरो के साथ करनी थी पर वो नहीं आया। बहुत दिनों बाद पता कि उसने शाहरुख ख़ान के साथ एक चरित्र अभिनेता के रोल के लिए फ़िल्म साइन कर ली थी और डेट्स दे दी थीं। पूछने पर उसने स्क्रिप्ट पसन्द नहीं आने का बहाना बना कर साइनिंग वापस लौटा दिया। बस वहीं से उसे जो साँप काटने शुरू हुए हैं तो रुकने का नाम नहीं लेते। निर्माता के 27 लाख डूब गए।

है ना कुछ अलग अंदाज़ और अलग चलन फ़िल्मी दुनिया का ? लेकिन इसका बोल-बाला युगों-युगों से बड़ा प्रभावोत्पादक रहा है और रहेगा। वो ऐसी सीढ़ी है जो 21 से 82 पर पहुँचा देती है। क्या सोच रहे हैं आप ? ऐसा खेला खेल कर इन्द्र अपना डोलता सिंहासन कितनी बार बचा चुके हैं तो बेचारा इन्सान तो कभी सिंहासन डोलने ही ना दे! हाँ, हाँ, हाँ। हम, तब यही तो ना कर सके!!! ये लाइन जितनी शौहरत और धन दिलाती है उतनी ही राजनीति और टाँग खिंचाई का अखाड़ा भी है। जितना काम कभी-कभी सिर्फ ज़बान से हो जाता है जो करोड़ों रुपयों से नहीं होता। यहाँ किसी के भी सिद्धान्त नहीं हैं और जिनके हैं तो वो बस...!

...पर, एक 4 से 14 वाली छोटी सीढ़ी भी 100 तक पहुँचने की खुशी भी दे देती है। पंकज सुबीर की अवार्डेड कहानी 'दो एकान्त' पर आधारित मेरी हालिया फ़िल्म 'बियाबान-द कर्स बाय विमेन' को सात अन्तर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोहों में बेस्ट फ़िल्म और बेस्ट निर्देशन के अवार्ड मिल चुके हैं और दो में नॉमिनेशन मिल चुके हैं। साथ ही मेरी बोस्टन में ओ. हेनरी की कहानी पर बनी लघु फ़िल्म 'ठिंचाक चोर' को इस वर्ष अब तक दो अवार्ड मिल चुके हैं और दो अन्तर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोहों में प्रवेश भी। एक लघु फ़िल्म निर्माणाधीन है। बस अब आप तक ये फ़िल्में आ जाएँ तो सीढ़ियाँ ही सीढ़ियाँ हैं, ईश्वर से प्रार्थना कीजिएगा।

मुझे 98 से 28 वाले साँप भी काटे हैं तो अब 21 से 82 वाली सीढ़ियों ने अतीव आनन्द भी प्रदान किया है। सोचता हूँ कि वाकई में ज़िन्दगी भी साँप-सीढ़ी का खेल है जिसका आनन्द लेते रहना चाहिए दृष्टा बन कर और आस्तीन के साँपों को झटकते रहना चाहिए सपेरा बन कर। ये हैं फ़िल्म निर्माण के कटु सत्य। आज मुझे अपनी ही लिखी पंक्तियाँ आपसे साझा करने का तीव्र मन कर रहा है :-

आँखों में साँप बसाए हुए हैं लोग,
रहनुमाई का ढोल बजाए हुए हैं लोग।
सीधे सुरक्षित रास्तों पर चलना भी क्या चलना है। धन्यवाद!

क्रमशः

❒❒❒

2603, ऑबराय स्पलेन्डर
मजास डेपो के सामने, जे.वी.एल.आर.
अंधेरी(पूर्व), मुम्बई 400060
9819856220, फ़ोन 022-42667734

शिवना साहित्यिकी सदस्यता प्रपत्र

यदि आप शिवना साहित्यिकी की सदस्यता लेना चाहते हैं, तो सदस्यता शुल्क इस प्रकार है : 200 रुपये (एक वर्ष), 400 रुपये (दो वर्ष), 1000 रुपये (पाँच वर्ष), 3000 रुपये (आजीवन)। सदस्यता शुल्क आप चैक / ड्राफ़्ट द्वारा शिवना साहित्यिकी (SHIVNA SAHITYIKI) के नाम से भेज सकते हैं। आप सदस्यता शुल्क को शिवना साहित्यिकी के बैंक खाते में भी जमा कर सकते हैं, बैंक खाते का विवरण इस प्रकार है :

Name of Account : **Shivna Sahityiki**, Account Number : **30010200000313**, Type : **Current Account**, Bank : **Bank Of Baroda**, Branch : **Sehore (M.P.)**, IFSC Code : **BARB0SEHORE** (Fifth Character is "Zero")

(विशेष रूप से ध्यान दें कि आई. एफ. एस. सी. कोड में पाँचवा कैरेक्टर अंग्रेज़ी का अक्षर 'ओ' नहीं है बल्कि अंक 'ज़ीरो' है।)

सदस्यता शुल्क के साथ नीचे दिये गए विवरण अनुसार जानकारी ईमेल अथवा डाक से हमें भेजें जिससे आपको पत्रिका भेजी जा सके:

नाम :— — — — — — — — — — — — — — **डाक का पता :**— **सदस्यता शुल्क :**— — — — — — **चैक / ड्राफ़्ट नंबर :**— — — — — — — —

ट्रांज़ेक्शन कोड (यदि ऑनलाइन ट्रांस्फ़र किया है) :— — — — — — **दिनांक :** — — — — — — — — — — —

(यदि सदस्यता शुल्क बैंक खाते में नकद जमा किया है तो बैंक की जमा रसीद डाक से अथवा स्कैन करके ईमेल द्वारा प्रेषित करें।)

संपादकीय एवं व्यवस्थापकीय कार्यालय : पी. सी. लैब, शॉप नंबर. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, म.प्र. 466001, दूरभाष : 07562405545, मोबाइल : 09806162184, ईमेल : vibhomswar@gmail.com

जो पिछले दिनों पढ़ा...

ठगलाइफ़

समीक्षक : सुधा ओम ढींगरा
लेखक : प्रितपाल कौर
प्रकाशक : हिमाचल बुक्स

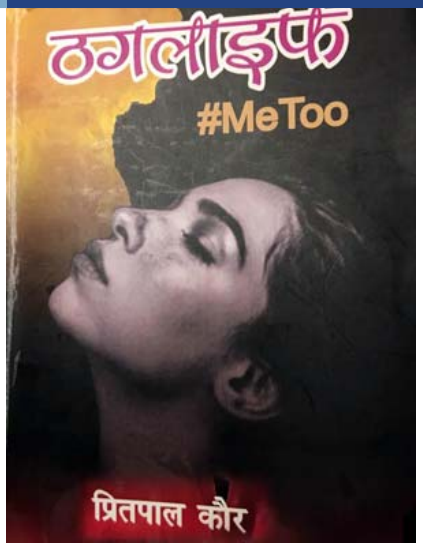

किताबें पढ़ने का शौक बचपन से है। कभी पढ़ना जुनून था और इस देश में आकर भी यह जुनून क़ायम रहा। इस देश में आते ही कई बुक क्लबों की सदस्यता ग्रहण की ताकि बेस्ट सैलर और लोकप्रिय पुस्तकें पढ़ सकूँ। हिन्दी पुस्तकों के लिए Pustak.org से जुड़ी। कई वर्ष उनके द्वारा पुस्तकें मँगावती रही। किताबों के चुनाव में परेशानी हो जाती थी। फेसबुक से जुड़ने के बाद तो पुस्तकों का चुनाव आसान हो गया। हर महीने पुस्तकों का बण्डल और मेरी पसंद की पत्रिकाएँ आती हैं और हर दो या तीन महीने बाद पंकज सुबीर अपनी पसंद की पुस्तकें भेज देते हैं यह कह कर, 'दीदी, इन्हें भी पढ़ें।' पंकज को पता है कि मुझे पढ़ने का बहुत शौक है। सच में उसकी भेजी पुस्तकें मुझे बहुत पसंद आती हैं। पर अब दादी बनने के बाद पढ़ने के शौक में कटौती करनी पड़ी है। जीवन में आए परिवर्तन का पोती के साथ खेल कर भरपूर आनंद लेना चाहती हूँ। अब केवल अपने भाई की पसंद की पुस्तकें पढ़ने का ही समय निकाल पाती हूँ। समय की कमी के कारण बस वही पुस्तकें पढ़ पाती हूँ जिनको पंकज ने स्वयं पढ़ कर फिर मेरे पास भेजा होता है।

मेरे लिए अच्छी पुस्तक वह होती है, जो मुझे बाँध ले और अंत तक पढ़वा ले जाए। जिस पुस्तक को मैं धक्के देकर पढ़ूँ, वह कितनी ही स्तरीय हो.....।

हाँ कभी पढ़ी हुई किताबों पर लिख नहीं पाई; क्योंकि स्वयं को कभी समीक्षक और आलोचक नहीं मान पाती। मूलत: वह मैं हूँ ही नहीं। मैं कभी लेखक के तौर पर भी उन पुस्तकों के बारे में नहीं सोच पाती हूँ। पढ़ते हुए मैं विशुद्ध पाठक होती हूँ । बस हरेक का आनंद लेती हूँ। गत कई महीनों से कुछ कहानियों और पुस्तकों ने स्वयं ही मुझ से लिखवा लिया और एक पाठक की कलम चल पड़ी।

इस बार के बण्डल में बहुत से किताबें आईं। प्रितपाल कौर की 'ठगलाइफ़' ने 'Me Too' के हैश टैग के साथ मेरा ध्यान आकर्षित किया। बस फिर क्या..... कुछ ही घंटों में उपन्यास समाप्त लिया। ठगलाइफ़ नाम से कुछ और सोचा था और 'Me Too' के हैश टैग से कुछ और। पर इसमें सविता की कहानी अलग-अलग झटकों में बड़ी रोचकता से कही गई है। वे झटके पाठक को भी लगते हैं। बेहद सरल भाषा में इसे पिरोया गया है और शैली के अंदाज़ ने उपन्यास को ऐसा बाँधा है कि पाठक भी उससे बँध जाता है। एक बार पढ़ना प्रारंभ करता है, तो बस पढ़ता ही जाता है।

जीवन में अक्सर कई व्यक्तियों को मिलकर, उनकी कुंठाओं, उनकी असुरक्षा की भावनाओं, जीवन जीने के उलटे-सीधे तरीकों को देख कर हम सोचते हैं, कि वह ऐसा क्यों हैं? या फलाँ ऐसा क्यों है ? बचपन या किशोरावस्था में कुछ न कुछ ऐसा घटा होता है, जो उसे ऐसा बनाने में बीज का काम करता है। यह उपन्यास मुझे बहुत ही अपना-सा लगा। 'ठगलाइफ़' की मुख्य पात्र सविता जैसी ही कुछेक महिलाओं से तो मैं मिल भी चुकी हूँ।

लेखिका ने सविता के चरित्र का जब निर्माण किया तो इस बात का ध्यान रखा है कि उसके व्यक्तित्व , जीवन शैली और दिनचर्या को लेकर पाठक के मन में जो उथल-पुथल होगी, उसका निवारण उसके कारण देकर कर दिया जाए। यह बात मुझे बहुत अच्छी लगी। हालाँकि उन कारणों को थोड़ा और स्पष्ट किया जाना चाहिए था, उससे सविता का चरित्र और भी निखरता। शायद यह मेरे भीतर के मनोवैज्ञानिक मन की चाह है। हो सकता है, बहुत से पाठकों को महसूस भी न हो।

सविता जिस आग से खेल रही थी, उसका जलना स्वाभाविक था। सविता के अंत को पाठक भाँप जाता है, कैसे हुआ यह बात अलग है ? ठगलाइफ़ शीर्षक सविता के जीवन से न्याय नहीं करता। वह जो भी थी, वह बेपरवाही, नफ़रत और शोषण की उपज थी। उसी से पैदा हुई उसकी मानसिकता और चरित्र था। उसका कसूर इतना था कि वह लड़की थी और पैदा हो गई थी। काश! उपन्यास का कोई और संवेदनशील नाम होता। इसके बावजूद उपन्यास भीतर तक उतरा और उसने मुझे लिखने पर मजबूर किया। समाज का एक अलग आइना दिखाता पठनीय उपन्यास है। पाठक इसे पढ़ें ज़रूर । प्रितपाल कौर को तहे दिल से बधाई देती हूँ, पाठकों को एक रोचक उपन्यास देने के लिए ।

❐❐❐

101, गाईमन कोर्ट, मोर्रिस्विल्ल, नॉर्थ कैरोलाइना-27560, यू.एस.ए.
फोन : +1-919-678-9056
मोबाइल : +1-919-801-0672
ईमेल : sudhadrishti@gmail.com

शोध-आलेख

शब्द पखेरू

शोध समीक्षक : शगुफ्ता यास्मीन
लेखक : नासिरा शर्मा
प्रकाशक : वाणी प्रकाशन

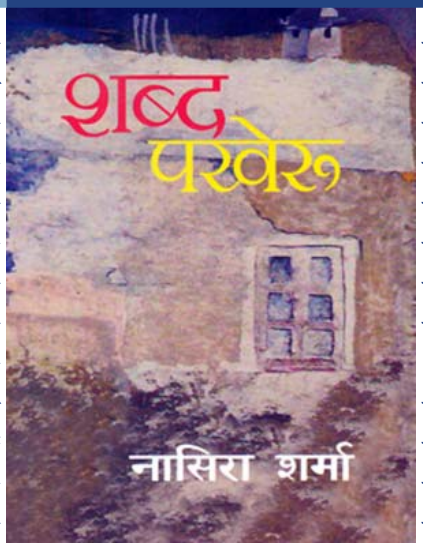

अपनी सादगी, सहजता और सूफ़ियाना मिजाज के चलते हिन्दी कथा-साहित्य में एक अहम मुकाम बनाने वाली समकालीन कथाकार नासिरा शर्मा एक चिरपरिचित नाम हैं। सही मायने में नासिरा जी संघर्षशील जीवन की लेखिका हैं। उनकी रचनाओं में समाज का वह तबका बार-बार उभरकर सामने आता है जो अपनी नियति अथवा आर्थिक दबाव के कारण रोज़मर्रा की ज़िंदगी जीने में बदहाल - बेहाल है। किन्तु तमाम विपत्तियों - विवशताओं के बावजूद भी वह परिस्थितियों से हार नहीं मानता। लड़ने का यह जज़्बा, जूझने का यह माद्दा दरअसल पात्रों के बहाने कथाकार की अपनी जीवन दृष्टि का परिचायक है।

समसामयिक ज्वलंत मुद्दों को उनकी कमियों - खूबियों के साथ अपने रचना संसार में संगुफित करने में रचनाकार को महारत हासिल है। सूचना और संचार क्रांति के तकनीकी विकास ने जहाँ पूरी दुनिया को हमारी मुट्ठी में भरने का करतब कर दिखाया है वहीं इसी दुनिया से काटकर एक ऐसा माहौल तैयार किया है जहाँ हम स्वेच्छा से इंटरनेट की भूलभुलैया एवं एकांत में ही वास्तविक जीवन सुख तलाशने लगे हैं। चौबीसों घंटे ऑनलाइन होना अपटूडेट होने का पर्याय बन गया है। चैट बॉक्स पर मिलने वाले 'लाइक्स - कमेंट्स' को जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि समझा जाने लगा है। फेक आई. डी. के जरिये झूठे प्यार और आभासी संवेदनाओं के जाल में लोगों को फाँसकर मनी लॉन्डरिंग और मनी ट्रेफ़ेकिंग जैसी जालसाजी का व्यापार धड़ल्ले से चलाया जा रहा है। साइबर क्राइम के बढ़ते आँकड़ों के मद्देनज़र वरिष्ठ लेखिका नासिरा शर्मा के सद्य: प्रकाशित उपन्यास 'शब्द पखेरू' की बहुआयामिता स्वयं सिद्ध है। ध्यातव्य है कि इस आम किन्तु भीषण गंभीर समस्या पर लिखा गया संभवत: यह हिन्दी का पहला उपन्यास है। इसके साथ ही उपन्यास अपने आप में मानवीय जिजीविषा की एक संघर्षपूर्ण विरोचित कथा कहता है।

कर्त्तव्य एवं प्रेम के संयोग से ही पारिवारिक दांपत्य जीवन में समरसता का संचार हो सकता है परंतु उपन्यास के प्रमुख पात्र सूर्यकांत बीमार पत्नी और दोनों बेटियों के प्रति दायित्व निर्वाह की आपाधापी से जीवन में प्रेम की अनिवार्यता को बिल्कुल भी भूल चुके हैं। प्रेम की जगह पति की दया पर आश्रित साधना में दिन - ब - दिन जीने की इच्छाशक्ति समाप्त होती जाती है। घर को निष्क्रिय, घुटनशील तथा तनावपूर्ण वातावरण से बाहर निकालने के लिए बड़ी बेटी मनीषा जहाँ संघर्ष का रास्ता अपनाती है, वहीं छोटी बेटी शैलजा समस्त दुखों और संतापों से मुक्ति का जरिया इंटरनेट को बना लेती है। दोनों पात्रों को उपन्यास में इस ढंग से सिरजा गया है कि इनके चारित्रिक तुलनात्मक अध्ययन से रचनाकार की रचनादृष्टि एवं जीवनदृष्टि को भली-भाँति समझा जा सकता है -''मनीषा का सपना था आई. ए. एस. की परीक्षा पास करना और इस तनाव भरी ज़िंदगी में राहत की खोज। शैलजा उसकी उलटी दिशा को पकड़ना चाह रही थी यानी 'फरार' सारे दुखों से मुक्ति। एक ही संस्कार में पली-बढ़ी लड़कियाँ अपनी - अपनी अनुभूतियों से जीवन की डगर की खोज में थीं।'' धीर-गंभीर मनीषा लेखिका के 'माउथ पीस' के तौर पर उपन्यास में चित्रित हुई है। उसका धैर्य, संतुलन एवं विवेक सम्मत दृष्टिकोण अद्यतन पीढ़ी के लिए न केवल अनुकरणीय है बल्कि प्रेरणादायक भी है। किन्तु युगीन विडम्बना ही है कि शैलजा और उसकी मित्र मंडली में उसे 'बहन जी' की उपाधि से विभूषित किया जाता है। आज तथाकथित बोल्डनेस की अजीब सी अवधारणा बना ली गई है, जिसमें समझदारी का लेशमात्र भी समावेश नहीं है।

भूमंडलीकरण, बाज़ारवाद, उपभोक्तावाद, अत्याधुनिक जीवन शैली की यांत्रिकता, मशीनीकरण, पूँजी का बढ़ता वर्चस्व इत्यादि वर्तमान समय और सभ्यता के संकट हैं। इस संकट को उघाड़ने के लिए रचनाकार ने पीढ़िगत वैचारिक द्वंद्व को बखूबी वर्णित किया है। आज के मॉर्डन फास्ट लाइफ स्टाइल में आउटडेटेट पापा कोक और सेवेनअप की जगह बेल की शर्बत से अपनी प्यास बुझाते हैं। लेकिन अपने निजी जीवन मूल्यों में दृढ़ आस्था रखते हुए भी वे नए ज़माने की ताल से ताल मिलाकर चलने को विवश हैं। तभी तो बेटियों की खुशी के लिए इंटरनेट से रेसेपी लेकर चिकन चिली, चिकन मंचुरियन जैसे व्यंजन बनाते हैं। उनका यह सोचना बहुत हद तक सही ही है कि -''हर पीढ़ी के अपने चाव, समय के हर मोड़ पर पहले को किस ख़ामोशी से नकार बैठता है शायद वर्तमान इसी को कहते हैं। हम अब जीते जी अतीत हो जाएँगे अगर हमने वर्तमान को नई पीढ़ी की नज़रों से नहीं देखा।''

कथाकार ने समय और सभ्यता के संकट को कई संदर्भों में प्रस्तुत किया है। भूमंडलीकरण की तेज़ आँधी ने गाँव के भूगोल को

ही बदलकर रख दिया है। प्रेमचंद का होरी जिस 'मरजाद' की रक्षा के लिए आजीवन संघर्ष करता है वह अब बहुत बीते समय की बात हो गई है। गाँवों से उजड़कर नगरोन्मुखी होना आधुनिक एवं विकसित होने का प्रतिमान हो गया है। गाँव ही क्यों अब तो सुख, भोगवाद के साधनों में अपनी हिस्सेदारी साबित करने के लिए गाँव की देहरी से आगे बढ़कर, देश की दहलीज़ लाँघने की मनोवृत्ति भारतीय जनमानस में बड़ी तेजी से घर कर रही है। भविष्य सँवारने की ललक से प्रेरित गाँव का एक बड़ा तबका विदेशों की ओर रुख कर रहा है। इस समूहिक विस्थापन से उत्पन्न पारिवारिक त्रासदी एवं पीड़ा को 'भूरे चाचा' के मार्फत उपन्यास में दिखाया गया है। यह विस्थापन केवल व्यक्ति तक ही सीमित नहीं है बल्कि गाँव से उसकी संस्कृति, अस्मिता, सहजता, सौहाद्र, बोली बानी निर्वासन के कगार पर हैं। इस विकट समस्या को गहन चिंतना के साथ उपन्यास में रूपायित किया गया है। आठ साल बाद जब सूर्यकांत अपने गाँव जाते हैं तो उसका कायाकल्प देखकर वे आश्चर्यचकित रह जाते हैं। अपने मकान और खेत का सौदा-सुलफ कर लौटते समय उनकी जो मनोदशा होती है उसका उपन्यासकार ने बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है -''आते हुए उन्हें ऐसा लगा जैसे माँ की गोद उनसे आज छिनी है। न ज़मीन में अपनापन था न माहौल में वह पुरानी ऊष्मा। सब कुछ ठंडा और स्पंदनहीन था।''

कहने की आवश्यकता नहीं है कि गाँव के परिवेश में यह ठंडापन एवं स्पंदनहीनता सांस्कृतिक शून्यता की उपज है, जो भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद की सबसे बड़ी देन है।

सूचना तथा संचार क्रांति के विस्फोट काल ने जहाँ सामुहिकता एवं आत्मीयता की परंपरा को अपदस्थ कर दिया है, वहीं पूँजी की सर्वव्यापकता ने मानवीय संवेदनाओं को छिन्न-भिन्न करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है। आज व्यक्ति का सबसे बड़ा धर्म पूँजी है और पूँजी का मुनाफ़ा। उसके सामने रिश्ते-नाते और संवेदनाओं की कोई क़ीमत नहीं। इन भावनाओं में जीना, निपट मूर्खता एवं पिछड़ेपन की निशानी है। क्या गाँव, क्या शहर, मशीनी और पूँजीवादी सभ्यता ने हमारी मानसिकता को गहरे रूप में प्रभावित किया है। शैलजा के अमेरिका जाकर पढ़ने का सपना इसी सभ्यता के शिकार होने का सपना है। उसके निम्नांकित कथन में इसका स्पष्ट रूप देखा जा सकता है - ''यह पूरी दुनिया तकनीकी दृष्टि से जिस तेज़ी से बदल रही है वहाँ संवेदना की जगह पैसे का महत्त्व बढ़ रहा है और हम कुछ ज़्यादा ही भावुक हैं। चाह कर भी नहीं हो पाते हैं।''

अपनी भावुकता पर मलाल करती इस विचारहीन पीढ़ी के लिए ज्ञान, विज्ञान और तकनीकी प्रगति ने तमाम सकारात्मक संभावनाओं के बावजूद अनेक संकीर्णताएँ भी निर्मित कर ली हैं। फेसबुक और नवीन जनसंचार माध्यमों ने एक ऐसी आभासी दुनिया का निर्माण किया है, जिसकी रंगीनी एवं चमक-दमक युवा पीढ़ी को उत्तरोत्तर लुभा-भरमा रही है। इसके मोह और आकर्षण से बंधी-बिंधी साइबर एज वाली जनरेशन पर शॉटकर्ट की संस्कृति अनायास हावी होती जा रही है। पूँजी एवं सुखभोगवाद के प्रति अमोघ आकर्षण की यह प्रवृत्ति कितनी विनाशकारी है, उपन्यास इसका जीवंत दस्तावेज़ है।

'इंटरनेट बेबी' शैलजा इसी शॉटकर्ट के द्वारा एक बेहतर ज़िंदगी जीने की तमन्ना पाल लेती है। तथोक्त आर्मी ऑफिसर 'क्रिस्ट एलेन' उसके लिए सेक्योर फ्यूचर की चाभी है। फेसबुक पर क्रिस्ट एलेन की प्रायोजित प्यार में पगे रूमानी शब्दों की एक बानगी विशेष रूप से द्रष्टव्य है-

''इस अंधेरी घाटी में तारों भरा आकाश इतने नीचे उतर आया है कि लगता है अगर हाथ ऊपर करूँगा तो इन हीरों को तोड़ लूँगा फिर तुम्हारी गर्दन का नेकलेस बनाकर तुम्हें पेश करूँगा। यकीन करो हनी, आई लव यू।''

इन निरर्थक शब्दों के सुनहरे वाग्जाल में फँसकर वह मनी ट्रेफ़ेकिंग के मोड़ तक पहुँच जाती है। शुक्र है कि 'नईम चाचा' जैसे अनुभवी लोग अब भी मौजूद हैं जो शैलजा को साइबर क्राइम की अंधी-अंधेरी सुरंग में धँसने से बचा लेते हैं। झूठे नाम और पहचान के पीछे छुपे असली फरेब से अनभिज्ञ शैलजा जैसी अनगिनत लड़कियाँ अनजाने में साइबर क्राइम का हिस्सा बन अपनी ज़िंदगी बर्बाद कर लेती हैं। सोशल नेटवर्किंग साइट्स पर फेक बंदों द्वारा प्रस्तावित आभासी दुनिया को असली दुनिया मानकर चलने वालों की दिशाहीनता कथा लेखिका की सबसे बड़ी चिंता है। नईम चाचा के माध्यम से उन्होंने इस आसन्न संकट के प्रति युवा पीढ़ी को सचेत करते हुए उचित मार्ग दर्शन भी किया है -''पैसा मेहनत से कमाया जाता है शॉटकर्ट से नहीं। तुम जवानों की महत्त्वाकांक्षाओं की हड़बड़ाहट मेरी समझ से बाहर है। हर चीज़ ब्रांडेड चाहिए। बेहतर है कि तुम इस रूमानी नाटक को ब्लॉक करो..... अपनी एनर्जी पॉज़िटिव कामों में लगाओ।'' यथार्थ की ज़मीनी सच्चाई के उद्घाटित होते ही मुहब्बत में भीगे शब्दों के पखेरू उड़ जाते हैं। इस परिस्थिति में शैलजा की मनोव्यथा का अत्यंत कारुणिक चित्रांकन मूर्ति विधायिनी भाषा शैली में किया गया है - ''शायद यह अति आधुनिक प्रेम का रंग था जिसमें वह भीग कर भी बदरंग रह गई। कुछ पल अभी गुज़रे ही थे कि अचानक क्रिस्ट एलेन की साल भर बजने वाली सिंफ़नी अचानक ख़ामोश हो गई। अब वहाँ उसकी स्वर लहरी का कोई नोट बाकी नहीं बचा था। उसके मैसेजेज़ की खाली जगहों को उसने उँगली से कुछ यूँ छुआ जैसे रेत में गिरे वह अपने चूर-चूर सपनों के कणों को ढूँढ़ रही हो अपना सर पटक बिन जल मछली की तरह तड़प उठी।''

अंततः स्त्री विमर्श के निहितार्थों के परिप्रेक्ष्य में भी उपन्यास की सार्थकता पर विचार किया जा सकता है। भारतीय समाज की पितृसत्तात्मक संरचना में पुत्र को मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन माना गया है। अनादि काल से कुल और परिवार के तारणकर्ता के रूप में उसकी छवि यथास्थिति बनी हुई है। कथाकार ने इस रूढ़िग्रस्त परंपरावादी सोच के बरक्स सूर्यकांत की दोनों बेटियों को खड़ा किया है। उनके सद्प्रयासों से ही वर्षों से बिस्तर शैय्या पर पड़ी हुई साधना अपनी ज़िंदगी में वापस लौट पाती है। अपने पिता सूर्यकांत को निराशा एवं अवसाद के गर्त से बाहर निकालने में भी उनकी अहम भूमिका रही है। बतौर रचनाकार -''बेटियों ने उन्हें बताया कि जीवन नीरसता को तोड़ना,

अतीत के कुँए में दुखों को फेंक कर आगे बढ़ने का नाम ही संघर्ष है। इंसानी जिजीविषा को थपक कर सुलाना केवल मूर्खता है।'' पिता की अनुपस्थिति में पूरे घर और बीमार माँ की ज़िम्मेदारी जिस कर्तव्य निष्ठा तथा निपुणता के साथ वे निभाती हैं, वह आधी दुनिया के प्रति वैचारिक बदलाव का मौन मूक आगाज़ ही है।

अस्तु, नासिरा शर्मा कृत 'शब्द पखेरू' हिन्दी उपन्यास जगत की अनुपम उपलब्धि है। सहज एवं सरल भाषा शैली में दुरूह और संजीदा विचारों को कहने की अनूठी भाव भंगिमा उनमें विद्यमान है। उपन्यास की पठनीयता और रोचकता इसका विशेष आकर्षण है। नासिरा जी की सबसे बड़ी खूबी यह है कि अपने विपुल साहित्य सृजन के बावजूद किसी भी प्रकार के रिपिटेशन से वे सदैव बचती आईं हैं। नित नवीन, गंभीर और अनछुए विषयों से हिन्दी कथा साहित्य को समृद्ध करने वाले इने-गिने कथाकारों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। महिला लेखन की बँधी-बँधाई परिपाटी तथा पेटी मैटर्स को तोड़ने का जो कलात्मक जोखिम उन्होंने उठाया है वह उन्हें अपने समकालीनों से सर्वथा अलग करता है। इस संदर्भ में ओम निश्चल की कुछ पंक्तियाँ उल्लेखित करना अप्रासांगिक न होगा -''वे अपने लेखन की वृहत्तर मानवीय थीम के कारण महिला लेखकों के ब्रेकेट से बाहर एक भारतीय लेखक का दर्जा रखती हैं। अपने उपन्यासों को उन्होंने फ़ैशनपरस्त जुमलों और विमर्शों में स्थगित नहीं होने दिया है बल्कि उनके जरिये बाहर के समाज से भारत को जोड़ने की एक बड़ी पेशकश की है।''

कहना न होगा कि 'शब्द पखेरू' उपन्यास के द्वारा लेखिका ने न केवल इंटरनेट की आभासी दुनिया के वास्तविक यथार्थ से पाठकों को रूबरू करवाया है बल्कि उसके प्रति युवा वर्ग के अदम्य आवर्जन के भयंकर दुष्परिणामों के साथ ही इस दुनिया में उनके सुरक्षित और सकर्मक आवाजाही को सुगम बनाने की दिशा में ज़रूरी पहल भी की है।

❑❑❑

शोधार्थी, हिंदी विभाग, पश्चिम बंग राज्य विश्वविद्यालय, बारासात-, कोलकाता, 700126, पश्चिम बंगाल

पुस्तक चर्चा

आचमन, प्रेम जल से

समीक्षक : प्रतिमा अखिलेश
लेखक: ई. अर्चना नायडू
प्रकाशक: शिवना प्रकाशन

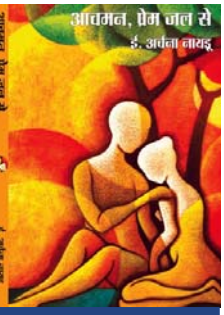

प्रेमाभिलाषी जोड़े के सुंदर चित्र को आवरण में स्थान देने के साथ,एक सौ बीस ऑफ़ व्हाइट, लाइट वेट पृष्ठों में, सर्वमान्य मानकों के अनुरूप, स्वच्छ, सुस्पष्ट रूप-से, आकर्षक सज्जा में, मानव की बहुरंगीय भावनाओं का सांगोपांग शब्द-चित्रण है- कवयित्री ई. अर्चना नायडू की काव्य पुस्तक 'आचमन, प्रेम जल से'। आपने मानवीय संवेदनाओं के वैविध्य में सांस्कृतिक वैशिष्ट्य का संगम करा, साहित्य-अर्णव में जो प्रयास-पुष्प अर्पित किए हैं, वो प्रशंसनीय हैं।

तीन महान शब्दों की त्रयी को कवयित्री ने इस प्रेम जल धारा का शीर्षक बनाया है, संयोग देखिए! ये ही उनकी प्रथम कविता के अंश भी हैं। 'प्रेम' जिस पर सारा जगत आश्रित है। जिसे पा कर अनपढ़ में पांडित्य आ जाता है; और जिसके अभाव में एक सर्व-भिज्ञ भी अनभिज्ञ, अपूर्ण-सा प्रतीत होता है। कबीर ने 'प्रेम की गली को अति साँकरी' बताया है। इसी भावक्रम में कवयित्री ने इसे अत्यंत गहराइयाँ लिए तृषा बताया है। कवयित्री प्रेम को अलौकिक प्रगाढ़ता की दृष्टि-से देखतीं हैं। द्वितीय शब्द 'आचमन' को आपने बड़ी कुशलता से अपने शाब्दिक साम्राज्य में स्थापित किया। जल जीवन है सत्य है; परंतु उसका आचमन न हो तो यह कैसे जीवनदायी होगा! यहाँ जिस प्रेम जल को अर्चना जी ने सींचा है, यदि देवों को भी इससे वंचित कर दिया जाए तो क्या वे प्यासे न रह जाएँगे! इसी प्रेम जल की शक्ति की अलग ही अभिव्यक्ति है, इस पुस्तक में।

कवयित्री द्वारा 'प्रेम जल के तर्पण' का गहन भाव, स्वयं के चिर -प्रस्थान पश्चात्, अपने जीवन साथी से प्रेम आचमन के रूप में याचित है, जो आचमन की महान ऊँचाई है। ऐसा मेरा मानना है। कहा जाता है 'काव्य करुणा की कुक्षी-से जन्म लेता है।' सच में! यहाँ ये चित्रित होता दिख रहा है। शब्दों का साम्राज्य इतना संवेदनशील होता है कि, हल्की सी भूल भी अर्थ का अनर्थ निकाल कर सम्पूर्ण प्रयास को ध्वस्त कर सकती है। इसीलिए कवयित्री अर्चना जी ने इनके उपयोग में बड़ी सतर्कता बरती है, जो प्रशंसनीय है। प्रेम को स्मृतियों में गूँथ के उसे बड़े आत्मीय रूप-से प्रस्तुत करना, यह एक सुंदर प्रयास है।

तृतीय महाशब्द 'जल' है। यह जीवन दायनी दृव्य है। यदि जल न हो तो परिणामत: पूरा जग ही जल जाए! आपने 'नदिया और समंदर' कविता में नदी और समुद्र के गुणों को, उनके स्वभावों को; तथा उनके जल प्रभावों को बड़ी कुशलता के साथ चित्रित किया है। इसमें सन्निहित भाव साफ कहते हैं कि, युगों से मानव इन जलराशियों का ना-नाविध रूप-से उचित अथवा अनुचित उपभोग करता आ रहा है, फिर भी यह प्राण दायनी नीर समुच्चय, सभी के शुष्क जीवन में सम भाव से तरलता भरती है।

साहित्य में व्याकरण और लेखन नियमों का अपना स्थान है; परंतु इनकी परिपूर्ती करते-करते भाव विहीन लेखन, पाठकों को कृति-से दूर कर देता है। यहाँ, कुछ कमियों के बावज़ूद भी कवयित्री की भाषाई सुगम्यता, तथा भावों की पूर्णता में किंचित मात्र भी अंतर नहीं दिखता, निश्चित ही यह अर्चना जी का सुदृढ़ लेखन कौशल ही है।

❑❑❑

दादू मोहल्ला-संजय वार्ड
सिवनी-480661(म.प्र.)
मोबाइल - 9407814975

समीक्षा

अभी तुम इश्क़ में हो

समीक्षक : प्रो. डॉ. मुहम्मद नौमान ख़ाँ
(सेवानिवृत्त प्राध्यापक उर्दू, एनसीईआरटी, दिल्ली)

लेखक : पंकज सुबीर, प्रकाशक : शिवना प्रकाशन

लिसानियाती (भाषा विज्ञान) के ऐतबार से हिन्दी एवं उर्दू दोनों भाषाओं का उद्भव हिन्द आरयाई ख़ानदान से संबंधित खड़ी बोली से होता है। दोनों भाषाओं की व्याकरण संरचना एक जैसी है और दोनों भाषाओं में प्रचलित 60 प्रतिशत से ज़्यादा अल्फ़ाज़ एक समान हैं, परन्तु दोनों की लिपि अलग-अलग है।

हिन्दी कविता में 'अन्ति अलंकार' यानी आख़री अक्षरों की तकरार मौजूद है जिसे उर्दू शायरी में 'काफिया और रदीफ' कहा जाता है। हिन्दी शायरी में शामिल 'अरूज़ दानी' के अमल को 'पिंगल' कहते हैं जो कि उर्दू फने अरूज़ से भिन्नता रखती है। उर्दू शायरी में 'बह्र' के अरकान मुक़र्रर है जबकि पिंगल की बेहर नापने के लिए मात्राओं एवं वर्णों की सहायता ली जाती है।

उर्दू शायरी में 'बारहमासा', 'दोहा' एवं 'गीत' हिन्दी साहित्य की देन है और हिन्दी ग़ज़ल ने उर्दू शायरी से हिन्दी साहित्य में प्रवेश किया है। जिस प्रकार कई उर्दू शायरों ने हिन्दी साहित्य की कविता परम्परा का अनुसरण किया है उसी तरह कई हिन्दी कवियों ने भी उर्दू ग़ज़ल, उर्दू लफ़्ज़ियात एवं उर्दू तहज़ीब को अपना कर यह सिद्ध कर दिखाया है कि, चराग़ से चराग़ जलाने और एक-दूसरे से प्रभावित हो कर आदान-प्रदान की परम्परा प्राकृतिक रूप में हर भाषा में मौजूद रही है।

हिन्दी ग़ज़ल की परम्परा एवं उसका इतिहास ख़ासा अहम एवं प्राचीन है। अमीर ख़ुसरो का हिन्दवी कलाम, मसूद सआद सलमान एवं कबीर दास की रचनाओं में उर्दू-हिन्दी शायरी के मिले-जुले असरात एवं लफ़्ज़ियात (Diction) को देखा एवं महसूस किया जा सकता है।

अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना की 'मिदनाशतक' में ग़ज़लों के नमूने सम्मिलित हैं। नानक राय, शीतल और सदन वगैरह ने भी 'मिलावनी' के रूप में ग़ज़लें लिखी हैं।

उर्दू के पहले साहिबे दीवान (प्रथम समग्र) शायर कुली कुतुब शाह मआनी, मुल्ला वजही, वली दक्कनी, जाफर जटल्ली, नजीर अकबर आबादी, फिराक़ गोरखपुरी, जाँ निसार अख़्तर, नासिर काज़मी, जमील उद्दीन आली, ज़फ़र गोरखपुरी एवं निदा फ़ाज़ली आदि ने अपने कलाम में अधिकांश तौर पर हिन्दी अल्फ़ाज़ (अक्षरों) का प्रयोग किया है। वहीं कई हिन्दी कवियों ने भी अपनी ग़ज़लों में उर्दू अल्फ़ाज़ इस्तेमाल करके हमारी गंगा-जमनी तहज़ीब के ख़ूबसूरत नमूने पेश किए हैं। इस तारतम्य में हिन्दी लिपि में ग़ज़ल कहने वाले कवियों में पहला भव्य एवं प्रमुख नाम भारतेन्दु हरीशचन्द्र 'रसा' का है। भारतेन्दु समग्र में सम्मिलित हिन्दी लिपि में लिखी गई 27 ग़ज़लों की लफ़्ज़ियात (Diction) तराकीब और तशबीहात (अलंकरण) ऐसी हैं कि यदि उन्हें उर्दू लिपि में लिखा जाए तो वह उर्दू ग़ज़ल ही मानी जाएँगी।

भारतेन्दु हरीशचन्द्र के बाद हिन्दी में उर्दू ग़ज़ल की इस परम्परा को आगे बढ़ाने में श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' एवं त्रिलोचन वगैरह कवियों ने प्रमुख भूमिका निभाई है।

आज़ादी के बाद, हिन्दी ग़ज़ल के आधुनिक युग में शमशेर बहादुर सिंह, विजय बहादुर सिंह, बाल स्वरूप राही, शेरजंग गर्ग, दुष्यन्त कुमार, गोपाल दास 'नीरज' एवं विजय वाते आदि ने ग़ज़लें कह कर यह आभास दिलाया है कि, वोह न केवल ग़ज़ल के फ़न और उसकी तहज़ीब से पूरे तौर पर परिचित हैं बल्कि फ़ारसी के प्रभाव एवं फ़ारसी मुहावरे के बिना भी अच्छी और दिलों को छू लेने वाली ग़ज़लें कहने की दक्षता एवं क्षमता रखते हैं।

मौजूदा युग में जो हिन्दी कवि, हिन्दी ग़ज़ल कहकर अपनी फ़नकाराना सलाहियतों का प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं उनमें एक अहम (प्रमुख) नाम नौजवान कहानीकार, प्रख्यात उपन्यासकार एवं सुप्रसिद्ध कवि पंकज सुबीर का भी शामिल है। उनकी गद्य रचनाओं के कई संग्रह प्रकाशित होकर साहित्यिक गलियारों में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। गद्य एवं पद्य की सभी साहित्यिक विधाओं में उन्होंने अपने सृजनात्मक वैभवों के कीर्तिमान प्रस्तुत करके अपनी एक विशेष छवि स्थापित की है और देश एवं विदेश की नामचीन साहित्यिक संस्थाओं से साहित्यिक सम्मान और आम अवाम से आत्मिक सम्मान प्राप्त किए हैं।

पंकज सुबीर के कविता संग्रह 'अभी तुम इश्क़ में हो' में शामिल अधिकतर ग़ज़लें इश्क-व-मुहब्बत के जज़्बे से ओत-प्रोत हैं। यानि पंकज सुबीर की ग़ज़लों का प्रमुख विषय वही है जो कि ग़ज़ल का असली विषय है।

यह कहना ग़लत न होगा कि, पंकज सुबीर तहज़ीब-ए-मुहब्बत के शायर हैं। वो इश्क़ के जज़्बे से सराबोर नज़र आते हैं लेकिन उनकी ग़ज़लें ऐसे मुहज़्ज़ब (सुसंस्कृत) और गंभीर

आशिक़ (प्रेमी) की मिसाल पेश करती है, जो इश्क़ के नशे में डूबकर भी अपना आपा नहीं खोता, जुनून अंगेज़ी और हवसनाकी के बजाए मीर तक़ी मीर के इस शेर की नज़ीर (प्रमाण) पेश करता है :-

'दूर बैठा ग़ुबारे मीर उससे
इश्क़ बिन यह अदब नहीं आता।'

पंकज सुबीर का इश्क़िया कलाम उनके सच्चे अवलोकनों, पाकीज़ा विचारों एवं अनुभवों को प्रतिबिम्बित करता है। और पाठको एवं श्रोताओं को उनका क़द्रदाँ बना देता है। इश्क़ (प्रेम) एक अज़ली विषय है। उसके कई रूप स्वरूप हैं। इस ब्राह्माण्ड की संरचना दर असल इश्क़ का ही नतीजा है। सृजनहार से इश्क़, 'हक़ीक़ी इश्क़', और प्राणियों से इश्क़ 'मजाज़ी इश्क़' कहलाता है।

पंकज सुबीर की ग़ज़लों में उक्त दोनों इश्क़ पूरी चमक-दमक के साथ अपनी बहार (सुन्दरता) दिखाते हैं।

इश्क़े हक़ीक़ी की कुछ मिसालें प्रस्तुत हैं-

घटा, सितारे, धनक, फूल, चाँद सब में वही
उसी के नूर की फैली हुई शुआएँ हैं।

आपका ज़िक्र हो, मुसलसल हो
बस यही तो है शायरी, शायद

तुझे मैं भूल भी सकता हूँ लेकिन
तेरे जैसा कोई तो दूसरो हो?

उर्दू शायर वली दक्कनी ने कहा था :-

शुग़्ल बहतर है इश्क़बाज़ी का
क्या हक़ीक़ी व क्या मजाज़ी का।

पंकज सुबीर भी इसी बात पर अमल पेश नज़र आते हैं। ऊपर आपने इश्क़े हक़ीक़ी की मिसालें देखी थी अब इश्क़े मजाज़ी के कुछ नमूने भी देखिए :-

कोई तो कुछ कहो, क्या यही इश्क़ है?
रात-दिन एक ख़लिश सी है दिल में कहीं।

साँवला सा, सलोना सा बादल था एक
वो बरसता रहा, हम नहाते रहे।

इश्क़ में दरया पार नहीं उतरा जाता
इश्क़ में दरया का रुख़ मोड़ा करते हैं।

हो ज़रा फ़ुरसत तो मुझ को गुनगुना लो
प्रेम का मैं ढाई आखर हो गया हूँ।

पंकज सुबीर ने अपनी ग़ज़लों की बुनियाद उर्दू ग़ज़ल की परम्परा पर ही रखी है परन्तु अपनी ग़ज़लों में कहीं-कहीं हिन्दी-अंग्रेज़ी अल्फ़ाज़ इस्तेमाल करके एक नया आर्थिक बोध पैदा करने का सफल प्रयास भी किया है। कुछ मिसालें प्रस्तुत है :-

हमें इज़हार करना आ गया जब
उसे भी आ गया इग्नोर करना।

सवाले वस्ल देहरी पर खड़ा है
उठो, उठ कर उसे कर दो निरूत्तर।

कहा बच्चों से हँस के चाँदनी ने
तुम्हारे 'चाँद मामा' बावरे हैं।

मुहब्बत मत करो यह है हिदायत
अगर कर लो तो फिर घनघोर करना।

है इन्ट्रोवर्ट दिल मेरा बहुत यह
इसे आता नहीं है शोर करना।

पंकज सुबीर की ग़ज़लों का मुख्य विषय इश्क़-व-मुहब्बत ही है। वोह तेहज़ीब-ए-इश्क़ के शायर हैं परन्तु एक सच्चे एवं संवेदनशील शायर होने के सबब उन्होंने ज़िंदगी एवं समाज से संबंधित समस्याओं को भी अपनी ग़ज़लों का विषय बनाकर अपनी अन्तर्आत्मा एवं अन्त: स्वर को इस तरह ज़ाहिर किया है :-

सितारे चाँद, सूरज छोड़ भी सब
ज़मीं की बात कर ऐ मेरे शायर।

साँस आती है, साँस जाती है
इसको कहते हैं ज़िंदगी शायद

तरफ़दारी है या साज़िश है कोई?
यहाँ दरया को क्यों मोड़ा गया है?

ग़रीबों के लिए आया बहुत था
ग़रीबों तक बहुत थोड़ा गया है।

ठेकेदारी उन्हें रौशनी की मिली
जो चराग़ों को कल तक बुझाते रहे।

ख़ैर मैं जैसा भी हूँ हँसकर गले मिलता तो हूँ
माफ़ करना आपको इतना सलीक़ा भी नहीं

बात इश्क़-व-मुहब्बत की तहज़ीब और वक़ार (मर्यादा) की हो या सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं को पेश करने की, पंकज सुबीर को बात कहने का सलीक़ा आता है।

मैं उनके संग्रह 'अभी तुम इश्क़ में हो' के लिए उन्हें हार्दिक बधाई पेश करते हुए कामना करता हूँ कि उनका यह कविता संग्रह, हिन्दी, उर्दू दोनों के पाठकों में प्रतिष्ठित अवश्य होगा।

❑❑❑

एफ़-3, गोयल हरि अपार्टमेंट्स, ईदगाह हिल्स, भोपाल 462001
मोबाइल : 9891424095

नई पुस्तक

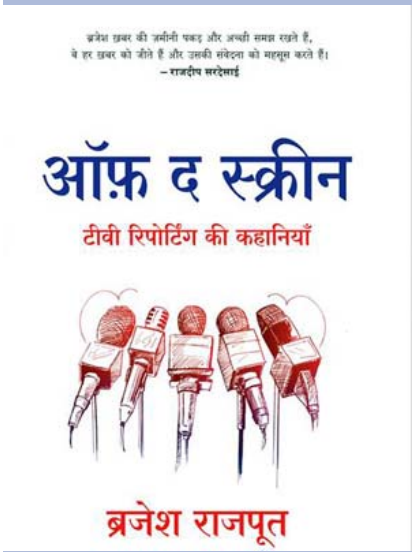

ऑफ़ द स्क्रीन

लेखक : ब्रजेश राजपूत
प्रकाशक : मंजुल प्रकाशन

पत्रकारिता से लेखन की ओर आना आज से बीस-पच्चीस साल पूर्व आम बात हुआ करती थी, मगर आज वह यदा-कदा होने वाली आश्चर्यजनक घटना होती है। ब्रजेश राजपूत जो जाने-माने पत्रकार हैं, अपनी दूसरी पुस्तक 'ऑफ़ द स्क्रीन' लेकर आए हैं। उनकी पहली पुस्तक 'चुनाव, राजनीति और रिपोर्टिंग' काफी चर्चित रही थी। इस दूसरी किताब में ब्रजेश राजपूत की टीवी रिपोर्टिंग के दौरान, उसी समाचार पर लिखी गईं 75 छोटी-छोटी कहानियाँ हैं। ब्रजेश राजपूत के पास क़िस्सागोई का अंदाज़ है और सुंदर भाषा है, इसलिए यह कहानियाँ पाठक को अपने साथ बाँध लेती हैं। यह कहानियाँ बहुत विविधता लिए हुए हैं, राजनैतिक, सामाजिक, प्राकृतिक, धार्मिक, सामयिक, सब प्रकार की कहानियाँ हैं। यह कहानियाँ समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं और अब पुस्तक के रूप में सामने आई हैं। यह ज़िंदा कहानियाँ हैं। यह एक पत्रकार की उस आँख से देखी गई कहानियाँ हैं, जिसे तीसरी आँख कहा जाता है, और वो वह सब देखती है, जिसे साधारण आँख से नहीं देखा जा सकता है। पठनीय, संग्रहणीय किताब।

❑❑❑

समीक्षा

स्वप्नपाश

समीक्षक : मीरा गोयल
लेखक : मनीषा कुलश्रेष्ठ
प्रकाशक : किताबघर प्रकाशन

मनीषा कुलश्रेष्ठ वर्तमान में हिन्दी की महत्त्वपूर्ण कथाकार, उपन्यासकार हैं। उनके कई कहानी संग्रह तथा उपन्यास आ चुके हैं। मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर रचनाएँ लिखना उनका पसंदीदा विषय है। पिछले दिनों एक जटिल मनोवैज्ञानिक विषय पर लिखा उनका नया और अत्यंत चर्चित उपन्यास 'स्वप्नपाश', सुधा ओम ढींगरा जी के सौजन्य से पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ।

उपन्यास पढ़ लिए जाने के बाद भी मुझसे जुड़ा रहा। उसके पात्र मानों मेरे अवचेतन से हटने को तैयार ही नहीं थे। सिज़ोफ्रीनिक गुलनाज़ फ़रीबा बार-बार विचलित हो कर अपने से पूछती हैं, 'मेरा अंतस इतना जटिल क्यों है! मैं औरों की तरह होना चाहती हूँ। यह कामना अपने हिस्से से अधिक माँगना तो नहीं है।'

सिज़ोफ्रीनिया ऐसी मानसिक स्थिति या कहें बीमारी है जिस पर लगातार शोध कार्य चल रहा है, परन्तु अभी तक इसका ठीक-ठीक कारण और इलाज वैज्ञानिकों की पकड़ में नहीं आ पाया है। क्या ये कभी ठीक न होने वाली स्थिति है, जिससे पीड़ित व्यक्ति को आजीवन इसी यातना के साथ जीना और मरना होगा! हेलूसिनेशन से भरा उनका जीवन सत्य और मिथ्या में भेद नहीं कर पाता और सब के लिए अनबूझ पहेली बन जाता है। स्नेह रहते हुए भी ऐसे लोगों से निजी, प्रिय जनों का भी विश्वास भंग हो जाता है। यह स्थिति दोनों पक्षों के लिए पीड़ा दायक होती है।

मनीषा कुलश्रेष्ठ ने अपने उपन्यास में बड़े रुचिकर ढंग से इस जटिल विषय पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है और कुछ हद तक सुलझाने में सफल भी हुई हैं। ऐसी स्थिति के चपेट में आए हर व्यक्ति इससे प्रभावित होते हैं। चिकित्सक और मरीज़ का सम्बन्ध बहुत नज़दीकी और सौ प्रतिशत विश्वसनीय होना इलाज की सफलता के लिए आवश्यक है और यही सामीप्य मरीज़ में भ्रम भी उत्पन्न करता है। इस दो धारी तलवार पर चलना किसी के लिए भी आसान नहीं होता। इस उपन्यास में चिकित्सक मृदुल ने अपनी सीमा की रक्षा की, पर मरीज़ गुलनाज़ फ़रीबा उस सही ग़लत का भेद जानते हुए भी समस्त सामाजिक मान्यताओं को नकार कर तृप्त हो जाना चाहती थी। गुलनाज़ सिज़ोफ्रीनिक थीं, पर क्या समाज जिन्हें नॉर्मल करार करता है, वे ऐसी हरकत नहीं करते?

सिज़ोफ्रीनिक आम लोगों से अपनी सोच, इच्छा और भावना में कुछ भी फ़र्क़ नहीं होते। एक ही मस्तिष्क में विभिन्न व्यक्तित्व का निवास!! कल्पना कीजिए, क्या आसान है? विभिन्न व्यक्तित्व को एक साथ निभाने का बोझ लिए इस जटिल समाज में जीना और इस रहस्य को गुप्त रखना क्या कठिन चुनौती नहीं है! कभी ये मेहमान व्यक्तित्व स्थिति को सँवारते हैं तो कभी भ्रम पैदा करते हैं कि असली स्वामी कौन है?

समाज में 'फिट इन' होने और स्वीकार किए जाने की तीव्र इच्छा से ये मरीज़ अपनी बीमारी अन्य लोगों से छिपा कर यातना अकेले ढोते हैं और समय से पहले निढाल हो, जीवन से निराश हो जिजीविषा खो देते हैं।

'स्वप्नपाश' वस्तुतः गुलनाज फ़रीबा, एक ललित कला साधिका की जीवन गाथा है, जो सिज़ोफ्रीनिया से पीड़ित थीं। प्रायः प्रभु के चुने ये लोग विशेष प्रतिभाशाली होते हैं, और गुलनाज़ तो एक मानी जानी 'प्रोटेज़ी' थीं।

मनीषा गुलनाज़ के जीवन और शोध के माध्यम से समाज की इस निहित समस्या को और उसके समाधान की बात को सामने लाई हैं। जब कथा की नायिका भ्रमित हो जाती है, जिसका जीवन है, तो पाठक का पढ़ते-पढ़ते असमंजस में पड़ जाना स्वाभाविक ही है। पाठक, गुलनाज़ की कथा से ऐसा जुड़ जाता है कि उसकी पीड़ा, माँ की निराशा, उनका क्रोध और बेटी के प्रति निराश स्नेह, पाठक भी महसूस करता है पर अपने को असहाय पाता है। चिकित्सक के प्रति भी सहानुभूति होती है, कि वो बिचारा क्या करे? वह भी मनुष्य है, पुरुष है, उसकी क्या सीमा हो, क्या कर्त्तव्य?

उपन्यास के शीर्षक स्वप्नपाश नाम से ही कथा के कथ्य का संकेत मिल जाता है। युवती, जिसका जीवन स्वप्न सा, सत्य और मिथ्या के बीच में झूल रहा है और वह उसके पाश से अपने को मुक्त नहीं कर पा रही है। पीड़ा के अतिरेक और निर्दिष्ट (मंजिल) तक पहुँचने के हर रास्ते बंद देख, अँधेरे गलियारों में भटक कर थकी, हारी, निराश गुलनाज़ शान्ति पा सकने की आशा में एक अनंत यात्रा पर निकल जाती है।

कथा का अंत पीड़ा दायक होते हुए भी मन को शान्ति प्रदान करता है। क्या विरोधाभास है।

❐❐❐

211 Landreth Court, Durham, NC-27713

समीक्षा

रेखाएँ बोलती हैं

समीक्षक : राकेश कुमार
संपादक : गीताश्री
प्रकाशक : शिवना प्रकाशन

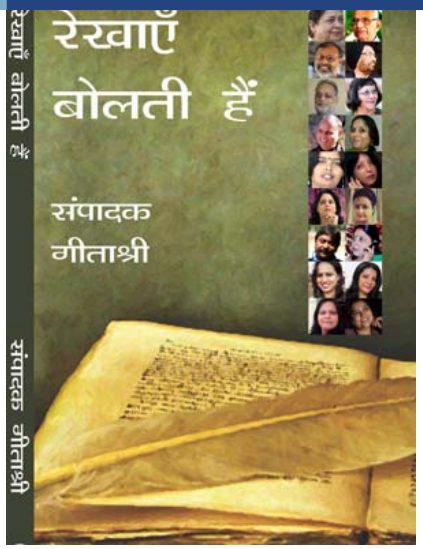

कलाएँ मानव सभ्यता की समृद्धि का पैमाना होती हैं और समय को जाँचने-परखने वाली आँख भी। अक्सर आलोचक-समीक्षक अपनी सुविधा की दृष्टि से कलाओं को चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, साहित्य आदि विभिन्न विधाओं और उपविधाओं में बाँट देते हैं, पर कला और साहित्य तो जीवन की भाँति सीमाओं और रूढ़ियों का अतिक्रमण करते हैं और अक्सर एक विधा दूसरी और दूसरी विधा तीसरी में इस प्रकार घुल-मिल जाती है कि उसे विलगाने के लिए आप कितनी भी रासायनिक, शास्त्रीय क्रियाएँ क्यों न कर लें, वे अलग हो ही नहीं पातीं; क्योंकि जीवन में भी इसी प्रकार की विभिन्न भूमिकाओं के बीच हमारी आवाजाही होती रहती है।

साहित्य में कब एक कविता एक कहानी में तब्दील हो जाती है और कब रेखाचित्र, संस्मरण में, अक्सर पता ही नहीं चलता। अकाल्पनिक गद्य वृत्त में आत्मकथाओं को जितना महत्त्व मिला है उतना रेखाचित्र और संस्मरणों को नहीं। इसका प्रमाण यह है कि संस्मरणों और रेखाचित्रों को अन्य विधाओं की श्रेणी में रखा जाता है और कहानी, उपन्यास को मुख्य श्रेणी में। पर रेखाचित्रों और संस्मरणों को जो बात महत्त्वपूर्ण बनाती है वह है उसकी वास्तविक जीवन से प्रगाढ़ता।

शिवना प्रकाशन से कथाकार गीताश्री के सम्पादन में रेखाचित्रों का एक महत्त्वपूर्ण संग्रह इस वर्ष प्रकाशित हुआ है- 'रेखाएँ बोलती हैं'। अपने सम्पादकीय में गीताश्री ने रेखाचित्र को 'बीते हुए लम्हों की फोटोकॉपी' कहा है। एक यायावर की डायरी की फोटोकॉपी। इस संग्रह में सत्रह रेखाचित्रों को संकलित किया गया है। अपनी प्रकृति की दृष्टि से इन सभी आलेखों को संस्मरणात्मक रेखाचित्र या फिर रेखाचित्रात्मक संस्मरण कह सकते हैं। इन सभी में सामान्य जीवन जीने वाले व्यक्तित्व अपने छोटे-छोटे कामों से बहुत अधिक बड़े दिखाई देते हैं। इनकी ओर हम अपनी भागती-दौड़ती ज़िंदगी में शायद ही ध्यान दे पाते हों; पर जैसे ही हमारी ज़िंदगी के कुछ पल इनके साथ जुड़ते हैं वे अपनी विशिष्ट जीवन दृष्टि से रचनाकारों को भी प्रभावित कर देते हैं। अक्सर यह कह दिया जाता है कि मजबूरियाँ मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देतीं, पर ये सामान्य जन अपनी आर्थिक-सामाजिक स्थिति में भले ही बहुत अधिक नीचे हों पर मनुष्यता के पायदान पर ऊँचे खड़े दिखाई देते हैं। वे इस बात को रेखांकित करते हैं कि मनुष्यता का बीज असंवेदनशीलता, उपेक्षा और असमानता की बंजर चट्टानों को भी तोड़ कर उग आता है। इन सामान्य जनों में साहित्यकार हैं, बच्चे हैं, सड़क पर रेहड़ी लगाने वाले बुज़ुर्ग हैं, घरों मे काम करने वाली स्त्रियाँ हैं, वाहन चालक हैं, शारीरिक रूप से विकलांग हैं, पर एक जज़्बा उन्हें विशिष्ट बनाता है, वह है हमेशा दूसरों के लिए कुछ न कुछ करते रहना। यह बात भी तय है कि ये सभी सामान्य जन शायद ही कभी किसी इतिहास की किताब में जगह पाएँ पर वे शायद जीते ही इस तरह से हैं। साहित्य का काम यही तो है।

वरिष्ठ कथाकार नासिरा शर्मा का रेखाचित्र 'उड़ान भरने को तैयार एक लड़की' पाठकों का परिचय बचपन से ही संघर्षों को अपनी जिजीविषा से परास्त करती एक लड़की वफ़ा से कराता है जिसे प्यार से नासिरा जी काली चींटी कहती हैं। शाँत और परिश्रमी। उनके शब्दों में- पहली मुलाकात में ही 'काली चींटी' से मेरी दोस्ती हो गई। लगा कितनी प्यारी है अपने काम से काम रखती है, किसी दूसरे को दुख नहीं देती है। 'अम्मा जान के लिए, टीवी को धोने और कीमती ज़ेवर को गंदे कपड़ों में रखकर भूल जाने वाली वफ़ा की मासूम कारगुज़ारियाँ उनके प्यार को कम नहीं करतीं। एक बेगाने घर में वफ़ा काली चींटी की तरह मेहनत से अपना घर बना लेती है। लेखिका के घर में वफा और अमन की मौजूदगी भले ही आम लोगों को परेशान करती हो कि न जाने किसके बच्चे हैं? फोन पर मम्मी पापा से बात करते हैं और यहाँ अम्मीजान और अब्बू मौजूद हैं। यह उचित ही है कि लेखिका अपने घर को गुरुकुल कहती हैं जहाँ कुछ समय परिवार की तरह रहने के बाद बच्चे आगे अपने जीवन को बनाने के लिए घर से निकल जाते हैं। यह गुरुकुल निराला है जहाँ-हिंदी, भोजपुरी, शिया-सुन्नी, काला गोरा, बिहार-दिल्ली का कोई अड़ंगा नहीं लगा।'' (पृ.-23) यह किस्सा वफ़ा और अम्माजान के बीच अनाम रिश्ते की गहराई को रेखांकित कर देता है।

'उनकी ज़ुल्फ़ों के सब असीर हुए' राजेंद्र राव का वरिष्ठ कथाकार कामतानाथ पर लिखा एक बेहतरीन रेखाचित्र है। सारिका पत्रिका के चहीते रचनाकार कामतानाथ रिज़र्व बैंक की यूनियन के पदाधिकारी भी थे। राजेंद्र राव न केवल कामतानाथ के साहित्यकार व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बल्कि उनकी मज़दूरों-कर्मचारियों के

संघर्ष के प्रति निष्ठा और भाषाओं के ज्ञान के भी वे मुरीद हुए। यह रेखाचित्र कामतानाथ जी के व्यक्तित्व के कई आयामों से पाठकों को परिचित कराता है। राजेंद्र जी कामतानाथ के व्यक्तित्व के विषय में लिखते हैं- 'शिष्ट,संयम और सहज होना आज साहित्य की दुनिया में इतना मुश्किल क्यों हो गया है। यह हिम धातु से निर्मित सर्जक है, उसका अकाल क्यों पड़ गया है।' (पृ.-32)। मार्क्सवादी कामतानाथ के व्यक्तित्व की यह सरलता और दृढ़ता सभी को प्रभावित करती थी।

कथाकार-नाटककार ऋषिकेश सुलभ का 'अम्मा' माँ के संघर्षों के प्रति भावपूर्ण श्रद्धांजलि है। यह बात हम सभी जानते हैं कि इतिहास हमेशा उन नायकों को जानता है जिन्होंने बड़े सामाजिक-राजनीतिक मोर्चों पर काम किया पर उनके पीछे निरंतर अपने निजी सुखों का त्याग करने वालों को इतिहास में कभी स्थान नहीं मिलता। स्वतंत्रता सेनानी पति की अनुपस्थिति में अपने परिवार को अकेले पालना अत्यंत कठिन है। अम्मा यह काम करती हैं। सुलभ जी, अम्मा के अकेलेपन और संघर्षों को लोकगीतों के माध्यम से उभारते हैं। सुलभ जी लिखते हैं, 'वे जब स्त्री जीवन के दुखों को टेरतीं...राग भरतीं... गातीं तो दसों दिशाएँ स्तब्ध हो जातीं।... वे जीवन भर उन गीतों को चुनती रहीं, जिन गीतों में सवाल होते।' (पृ.-36-37)। इस संस्मरण को पढ़ते समय सुलभ जी के नाटक अमली की कई बार याद आती है।

वरिष्ठ कथाकार तेजिंदर भारतीय उपमहाद्वीप के सर्वाधिक संवेदनशील मुद्दे; हिंदू-मुस्लिम विभाजन और साम्प्रदायिकता को 'गोश ए नेमत और बूढ़ा' नामक आलेख में बड़ी गम्भीरता के साथ उठाते हैं। भारतीय उपमहाद्वीप को यह विभाजन लगातार मथता रहा है। लाखों लोग इस विभाजक मानसिकता की बलि चढ़ चुके हैं पर ऐसा क्या है जो यह कभी न बुझने वाली प्यास में तबदील हो चुका है। समस्या यह है कि इस प्यास की वजह से कोई महज़ इसलिए मारा जा सकता है कि उसका नाम आपके नाम की तरह नहीं है। उसका पहनावा, खान-पान, उसकी बोली आपके जैसी नहीं है। अगर यहीं तक मानव सभ्यता ने तरक़्क़ी की है तो माफ कीजिएगा इससे बर्बर तरक़्क़ी कोई हो नहीं सकती। साम्प्रदायिकता के रग-रेशे हमारे समाज की जड़ों को खोखला कर रहे हैं। साम्प्रदायिकता मनुष्य को धर्म विशेष और धर्म विशेष को पहचान में तब्दील कर देती है जिसके आधार पर हम किसी के मनुष्य होने न होने की पहचान करने लगते हैं। लेखक को इस बात का गहरा अनुभव पाकिस्तान यात्रा के दौरान होता है। जब उसे खालिस्तानी आंतकवादियों का प्रतिनिधि माना जाता है और उसके जवाब न देने पर कुछ युवा भद्दी-भद्दी गालियाँ देते हैं। इसी तरह से सामान्य-सा ऑटोवाला महज़ इसलिए उनसे किराया नहीं लेता क्योंकि वह लेखक को खालिस्तान का समर्थक मानता है। वह कहता है 'सरदार जी अल्लाह कसम तबीयत तर हो जाती है जब ख़बरों में सुनते हैं कि सरदारों ने आज पच्चीस पंडितों को हलाक् कर दिया...। मैं वहीं खड़ा रह गया। मैं जैसे अपनी जगह पर जम गया था। मुझे लगा कि ज्यों किसी ने सैकड़ों कील एक साथ मेरे सिर में और मेरे पैरों में ठोक दिए हों।''(पृ.-45) अपनी जड़ों की तलाश में आए लेखक को यह सबकुछ बहुत अधिक बेचैन कर देता है। इस पूरी यात्रा में नकारात्मकता और निराशा के घने अंधकार के बीच मुनष्यता की दो रजत रेखाएँ लेखक को दिखाई देती हैं। पहली होटल के बाहर रेहड़ी पर चिकन सूप बेचने वाला बूढ़ा जो बड़े खुले दिल से लेखक का स्वागत करता है। उसका अपनापन लेखक को भावुक कर देता है। दूसरी लेखिका और मानवाधिकार कार्यकर्ता किश्वर नाहिद। अपनी सामाजिक-आर्थिक स्थिति में ये दोनों विपरीत ध्रुवों पर खड़े हैं पर इंसानियत का एक धागा दोनों को जोड़ता है। लेखक को बूढ़े में विभाजन के दौरान अपने बिछड़े हुए परिजन मिलते हैं। वह अनुभव करता है कि वह बूढ़ा रेहड़ी वाला कबीर, नानक, बुल्लेशाह की साझी विरासत को थामे हुए है। भले ही वह यह स्वयं भी नहीं जानता। यह आलेख भारतीय उपमहाद्वीप की साम्प्रदायिक राजनीति के सच को दिखाता है और वर्तमान के लिए भी आईने का काम करता है कि कहीं हम फिर से उसी दौर में तो नहीं जा रहे।

मानवीय रिश्तों की तासीर ठंडक देने वाली होती है। वह अहसास कराती है कि परिस्थितियाँ चाहे कितनी भी विपरीत क्यों न हो जाएँ पर कोई है जो आपका हाथ कभी नहीं छोड़ेगा। यही गुण साधारण मनुष्य को असाधारणता प्रदान करता है। इस पुस्तक के दो आलेख-वरिष्ठ कथाकार सुधा ओम ढ़ीगरा का 'शल्या मौसी' और चर्चित कथाकार पंकज सुबीर का 'बुआ'; रिश्तों के इंद्रधनुष को आकार देते प्रतीत होते हैं। जहाँ शल्या मौसी लेखिका की सगी मौसी हैं तो बुआ से लेखक पंकज सुबीर का रक्त का कोई सम्बंध नहीं हैं। पर दोनों अपने प्रेरणादाई व्यक्तित्वों से जीवन को परिवर्तित करने की भाक्ति रखते हैं। शल्या मौसी अपनी दृष्टिहीनता को अपने रास्ते की बाधा नहीं बनने देतीं। वे नवजात सुधा को उस समय सहारा देती हैं जब उसकी माँ बीमार होने के कारण उसे अपने पास नहीं रख सकती थीं। बचपन में पोलियो का प्रकोप झेलने वाली सुधा का सहारा भी शल्या मौसी ही बनती हैं। अक्सर विकलांगता को बुरी किस्मत के साथ जोड़ दिया जाता है। बचपन में सुधा को जब किसी रिश्तेदार ने मनहूस कहा शल्या मौसी रिश्तेदार को घर से बाहर जाने का रास्ता दिखा देती हैं और भविष्यवाणी भी कर देती हैं कि एक दिन मुन्ना यानी सुधा ज़रूर कुछ बड़ा काम करेगी। यह भविष्यवाणी सच भी होती है। लेखिका की माँ जब तपेदिक का शिकार होती हैं तो शल्या मौसी अकेले ही लेखिका को पालती हैं। शल्या मौसी का व्यक्तित्व लेखिका की जीवन दृष्टि को प्रभावित करता है।

पंकज सुबीर का रेखाचित्र 'बुआ' महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों की याद दिलाता है। बुआ से लेखक का सम्बंध परिवार या रक्त का न था क्योंकि बुआ सिर्फ उनके लिए बुआ न थी बल्कि पूरे क़स्बे की बुआ थी। अस्पताल में आया का काम करने वाली बुआ के परिवार में शराबी पति और सौतेले बहू-बेटे के अतिरिक्त कोई न था। नि:संतान बुआ के लिए तो जैसे पूरा क़स्बा ही परिवार था। मीठे पानी के सोते की तरह जो किसी के लिए अपनी तरफ़ आने वाले रास्ते नहीं बंद करता। बुआ अपनी कमाई या तो लोगों को जलेबी खिलाकर खर्च करती थीं या फिर

धर्म-कर्म के काम में। सबको प्यार बाँटने वाली बुआ को जो गुण विशिष्ट बनाता है वह है उनकी क्षमाशीलता। वह किसी से भी द्वेष नहीं रखतीं। बूढ़ी बुआ हर किसी को खुशी और सुकून बाँटती हैं। पंकज सुबीर इस रेखाचित्र में न केवल बुआ के चरित्र को बहुत बारीकी से उकेरते हैं बल्कि पूरा क़स्बा उनकी लेखनी से जीवंत हो उठा है।

हम सभी कभी न कभी, किसी न किसी पूर्वाग्रह से अवश्य ग्रसित होते हैं। अक्सर ये पूर्वाग्रह वर्गीय होते हैं। हम अपने जीवन के अनुभवों को सामान्य सत्य की भाँति प्रयोग करना शुरु कर देते हैं। जैसे हम यह मानते हैं कि पुरुष हमेशा ही स्त्रियों का फ़ायदा उठाना चाहता है। या फिर यह कि ग़रीबी किसी भी आदमी को चोर बना सकती है। या फिर शिक्षा ही मनुष्य को श्रेष्ठ बनाती है। पर समस्या तब पैदा होती है कि जब हम इन पूर्वाग्रहों को सामान्य सत्य की तरह प्रयोग करने लगते हैं तब हमारी मनुष्यता की कसौटियाँ भी छोटी होती चली जाती हैं। कथाकार प्रज्ञा के रेखाचित्र 'रेत की दीवार' की नैना के साथ कुछ ऐसा ही घटित होता है। शिक्षित और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर नयना अपने बूढ़े माता-पिता और बच्चों को लेकर पहाड़ पर सैर-सपाटे के लिए आती है तो वह ऐसे ही अनेक पूर्वाग्रहों का बोझ लेकर चलती है। हालाँकि यात्रा के पहले दिन का अनुभव उसके पूर्वाग्रहों की कुछ पुष्टि करता है जिसके बाद अगले दिन आने वाले ड्राइवर बलदेव के विषय में भी नयना की धारणा बनी रहती है। वह कहती है, 'अरे सीधेपन का नाटक है। अभी करेगा चिकचिक, कभी घुमाने को लेकर, कभी देरी को लेकर, कभी पैसों को लेकर।...औरत साथ बैठी है यही सोचकर खुश हो रहा होगा। इनके लिए क्या पढ़ी-लिखी, क्या अनपढ़ सब बराबर।... कहीं किसी सुनसान-सी जगह पर इसने हमला कर दिया तो क्या होगा?' (पृ.-83) इन सब ख्यालों से हम सभी कभी न कभी रू-ब-रू होते हैं। नैना के मन में चल रहे ये सवाल शहरी मध्यवर्गीय चरित्र का हिस्सा हैं। इन्हीं के कारण नयना बहुत देर तक बलदेव की सहजता, मानवीयता और ईमानदारी को नज़रअंदाज़ करती है। परंतु बलदेव का व्यक्तित्व नयना को अपनी धारणा बदलने के लिए मजबूर कर देता है। प्रज्ञा इस रेखाचित्र के माध्यम से मनुष्यता पर पड़ी स्वार्थ, कपट और शंकाओं की अनेक परतों को उजागर करती हैं। वे इस तथ्य को रेखांकित करती हैं कि मनुष्यता के बीज हर जगह बिखरे हुए हैं ज़रूरत है तो बस उन्हें आँख खोल कर देखने की।

इस संग्रह में कलावंती का रेखाचित्र 'कमला' अत्यंत मर्मस्पर्शी बन पड़ा है। कमला जो परिवार के लिए अपने जीवन की हर खुशी न्यौछावर कर देती है को जीवन कुछ नहीं देता। जब तक कमला अपने दम पर परिवार को चलाती है तब तक उसकी ज़रूरत बनी रहती है पर उसकी अपनी ज़रूरतों की ओर कोई ध्यान नहीं देता। यह त्याग और परिवार के लिए समर्पण की भावना उसे असाधारण बना देती है। इसके अतिरिक्त शिखा वार्ष्णेय का 'वोदका भरी आँखों वाली लड़की' एक ताज़गी से भरा संस्मणात्मक रेखाचित्र है। रंगकर्मी असीमा भट्ट का संस्मरण- 'और हाँ मैंने इस शाम खुद को बेचा...' रेणु मिश्रा का 'और आख़िर में हम दोनों ही बचेंगे' और प्रज्ञा पांडे का 'वह लीक छोड़कर चलता था' अच्छे हैं। कृष्ण बिहारी, रूपा सिंह, इरा टाक, सीरज सक्सेना, शिखा वार्ष्णेय, रेणु मिश्रा और सोनाली मिश्र के रेखाचित्र भी किताब में शामिल हैं।

आज के समय में जब मनुष्यता पर धर्म, जाति, सम्प्रदाय और पूँजी की बहुत गहरी परतें चढ़ चुकी हैं। आज जब हमारी आँखों पर स्वार्थों के बहुत गहरे रंग के चश्मे चढ़ चुके हैं ऐसे में यह संग्रह हमें हमारी ही दुनिया से परिचित कराता है। आज जब हम तुरंत यह मानने लगते हैं कि इस दुनिया में जीना है तो छल, स्वार्थ और शोषण के बिना नहीं रहा जा सकता। वहाँ यह संग्रह सहजता, परोपकार, और प्रेम को मनुष्य का मूल गुण बताता है। विभिन्न रचनात्मक उपकरणों से रचे गए विभिन्न आलेख अपनी रोचकता और विविधता से पाठकों को प्रभावित करते हैं।

❐❐❐

ई-112, आस्था कुंज अपार्टमेंट्स,सैक्टर-18,रोहिणी, दिल्ली-89
मोबाइल 9899686959

लेखकों से अनुरोध

'शिवना साहित्यिकी' में सभी लेखकों का स्वागत है। अपनी मौलिक, अप्रकाशित रचनाएँ ही भेजें। पत्रिका में राजनैतिक तथा विवादास्पद विषयों पर रचनाएँ प्रकाशित नहीं की जाएँगी। रचना को स्वीकार या अस्वीकार करने का पूर्ण अधिकार संपादक मंडल का होगा। प्रकाशित रचनाओं पर कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा। बहुत अधिक लम्बे पत्र तथा लम्बे आलेख न भेजें। अपनी सामग्री यूनिकोड अथवा चाणक्य फॉण्ट में वर्डपेड की टैक्स्ट फ़ाइल अथवा वर्ड की फ़ाइल के द्वारा ही भेजें। पीडीएफ़ या स्कैन की हुई जेपीजी फ़ाइल में नहीं भेजें, इस प्रकार की रचनाएँ विचार में नहीं ली जाएँगी। रचनाओं की साफ़्ट कॉपी ही ईमेल के द्वारा भेजें, डाक द्वारा हार्ड कॉपी नहीं भेजें, उसे प्रकाशित करना अथवा आपको वापस कर पाना हमारे लिए संभव नहीं होगा। रचना के साथ पूरा नाम व पता, ईमेल आदि लिखा होना ज़रूरी है। आलेख, कहानी के साथ अपना चित्र तथा संक्षिप्त सा परिचय भी भेजें। पुस्तक समीक्षाओं का स्वागत है, समीक्षाएँ अधिक लम्बी नहीं हों, सारगर्भित हों। समीक्षाओं के साथ पुस्तक के कवर का चित्र, लेखक का चित्र तथा प्रकाशन संबंधी आवश्यक जानकारियाँ भी अवश्य भेजें। एक अंक में आपकी किसी भी विधा की रचना (समीक्षा के अलावा) यदि प्रकाशित हो चुकी है तो अगली रचना के लिए तीन अंकों की प्रतीक्षा करें। एक बार में अपनी एक ही विधा की रचना भेजें, एक साथ कई विधाओं में अपनी रचनाएँ न भेजें। रचनाएँ भेजने से पूर्व एक बार पत्रिका में प्रकाशित हो रही रचनाओं को अवश्य देखें। रचना भेजने के बाद स्वीकृति हेतु प्रतीक्षा करें, बार-बार ईमेल नहीं करें, चूँकि पत्रिका त्रैमासिक है अत: कई बार किसी रचना को स्वीकृत करने तथा उसे अंक में प्रकाशित करने के बीच कुछ अंतराल हो सकता है।

धन्यवाद
संपादक
shivnasahityiki@gmail.com

समीक्षा

पागलखाना

समीक्षक : ब्रजेश राजपूत
लेखक : डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन

यदि ये लिख दूँ कि डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी के नए उपन्यास 'पागलखाना' को पढ़ना पगलाई दुनिया के पागलों से रू-ब-रू होना है तो उपन्यास के साथ इंसाफ़ नहीं होगा। यदि ये लिख दूँ कि इस उपन्यास को पढ़कर बहुत आनंद आया, तो ये भी सच नहीं होगा। दरअसल ये उपन्यास 'पागलखाना' डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी के उन पिछले सारे उपन्यासों से बिलकुल अलग है, जिनके लिए वो जाने जाते हैं।

अपने पिछले उपन्यास 'नरकयात्रा', 'बारामासी', 'मरीचिका' और 'हम ना मरब' में ज्ञान चतुर्वेदी ने हमारे संस्थानों और समाज में फैली विद्रुपताओं को व्यंग्य का छोंका लगाकर कहीं गुदगुदाया था तो कहीं हैरान किया था। कहीं शब्दों के सहारे अद्भुत दृश्य रच कर चौंकाया था, तो कहीं व्यंग्य की ऐसी तगड़ी मार की थी कि हँसते और रोते दोनों नहीं बनता था।

पागलखाना, ज्ञान जी के पुराने उपन्यासों से अलग है। इसमें उन्होंने अलग फेंटेसी रची है। मार्केट फेंटेसी। इस फेंटेसी में बाज़ार ही बाज़ार है। हर ओर बाज़ार का प्रभुत्व है, बाज़ार का बोलबाला है, बाज़ार ही राजा है, बाज़ार ही विलेन हैं। अब चूँकि राजा जब बाज़ार है तो प्रजा आम जनता है जो ग़ुलामी के हद से गुज़र रही है। जनता में अधिकतर लोगों ने बाज़ार के आगे सिर झुका दिया है, हथियार डाल दिए हैं और बाज़ार के रचे पागलखाने के हिस्से खुशी खुशी बन गए हैं। पर कुछ ऐसे नहीं है। किसी के सपनों की मौत हो गई है तो किसी के सपने कोई चुरा कर मोटरसाइकिल पर मुर्गे जैसे टाँग कर ले जा रहा है। ये लोग पागल कहलाए जा रहे हैं इनके दम पर ही पागलों के डाक्टर या मनोविज्ञानियों की क्लीनिकों में बहार आई हुई है। वो इनको पागल बताते हैं तो पागल इनको पागल समझते हैं। ये इस पागलखाने से बाहर भाग जाना चाहते हैं। वो तलाश कर रहे हैं कि बाज़ार के बाहर भी कोई दुनिया है क्या। जिसमें जाने के लिए वो तरह तरह के जतन करते हैं। ये वैसे पागल भी नहीं हैं जिनसे हम और आप रोज रू-ब-रू होते हैं। या जिनसे पागलखाने भरे हैं। ये सब वो लोग हैं, जो बाज़ार के दबदबे वाली इस दुनिया / व्यवस्था से अंततः एक दिन विद्रोह कर पागल बन जाते हैं।

इस उपन्यास की भूमिका में ही ज्ञान जी लिख देते हैं कि एक दिन जीवन पर बाज़ार का पूरा कब्ज़ा हो गया। समय ऐसा आया कि विचार, सोच, धज, कपड़े, लत्ते, भाव, प्यार, मुस्कान, संस्कृति, कला, संगीत, साहित्य, लोक जीवन की हर शै बाज़ार के इशारे पर चलने लगी पर तब भी कुछ सिरफिरे जीवन को बाज़ार से बड़ा मानते रहे। वे मानते थे कि बाज़ार जीवन के लिए है पर जीवन बाज़ार के लिए नहीं है, जीवन के अर्थ बड़े हैं यही लोग पागल कहलाए यह उन्हीं पागलों की कथा है।

पागलखाना में कुछ केरेक्टर उपन्यासकार ने पैदा किए हैं जिनकी अलग-अलग कहानियाँ चलतीं हैं, सबकी कहानियाँ एक सी हैं ये बाज़ार की ग़ुलामी से बचने के लिए इस बाज़ार से दूर भागना चाहते हैं कोई इसके लिए सुरंग खोदता है, तो कोई गटर की मदद से बाज़ार से दूर जाना चाहता है, मगर बाज़ार से बचना मुश्किल ही नहीं नामुमकिन है। इसलिए बाज़ार की सत्ता को चुनौती देने के लिए आख़िरी में एक फ़िल्मी दृश्य रचा है उपन्यासकार ने। जिसमें घंटाघर का घंटा बजने लगता है, जो बंद नहीं होता। यहीं बाज़ार अपने आपको पहली बार हारा हुआ महसूस करता है।

ये पूरा उपन्यास आपको कहीं हँसाता नहीं है। बल्कि बार-बार सोचने को मजबूर करता है कि क्या आने वाला वक़्त ऐसा होगा या हम बाज़ार के इतने ग़ुलाम हो गए हैं या आने वाले वक़्त में हो जाएँगे। बाज़ार की ये जकड़न जार्ज आरवेल के महान उपन्यास उन्नीस सौ चौरासी की याद दिलाता है। जिसमें बिग ब्रदर जनता पर अपनी ऐसी ही अदृश्य पकड़ रखता है। हाल की सरकार भी जनता पर ऐसी ही पकड़ रखना चाहती है, इस संदर्भ में ये उपन्यास सामयिक है। जिसमें ज्ञान चतुर्वेदी ने अपने व्यंग्यकार के फ्रेम को तोडकर कुछ नया रचने की कोशिश की है। ज्ञान जी की इस प्रयोगवादिता का स्वागत होना चाहिए मगर अंत में बात वही कि इस पूरे उपन्यास में पाठक 'बारामासी', 'नरकयात्रा', 'मरीचिका' और 'हम ना मरब' के ज्ञान चतुर्वेदी को ही पागलों की तरह तलाशता रहता है।

❐❐❐

ई-109/30, शिवाजी नगर, भोपाल
मध्यप्रदेश 462016
मोबाइल : 9425016025
ईमेल : brajeshrajputbhopal@gmail.com

समीक्षा
मोगरी

समीक्षक : डॉ. रेवन्त दान बारहठ
लेखक : मुरारी गुप्ता
प्रकाशक : बोधि प्रकाशन

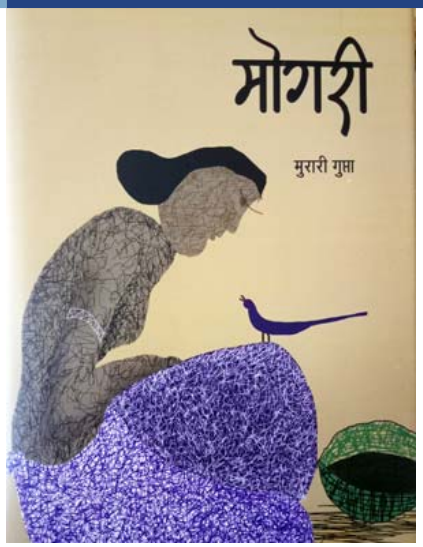

मुरारी गुप्ता के प्रथम कहानी संकलन 'मोगरी' में कुल चौदह कहानियाँ संकलित है। ये कहानियाँ मानव जीवन के विभिन्न मनोवैज्ञानिक पहलुओं से पाठकों को रू-ब-रू करवाती हैं, ख़ासतौर पर मानव के रागात्मक सम्बन्धों पर सूक्ष्म दृष्टि लेखक की गई है जिसमें विभिन्न भाव अपने सम्पूर्ण आवेग के साथ अभिव्यक्त हुए हैं।

इनकी कहानियों में जहाँ एक ओर स्त्री पुरुष सम्बन्ध, परम्परागत चरित्र आधारित नैतिकता, यौन शुचिता, तमाम वर्जनाएँ और यौन मुक्ति जैसे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से पड़ताल करती नज़र आती है, वहीं दूसरी तरफ लेखक का भोगा हुआ यथार्थ भी कुम्भ का वनवास और मौत का मेहमान जैसी मार्मिक कहानियों में अभिव्यक्त हुआ है।

मुंशी प्रेमचंद का मानना था कि अच्छी कहानी वही है जिसका आधार मनोविज्ञान हो। इस दृष्टि से मुरारी गुप्ता के कहानी संकलन में बाल मनोविज्ञान का कुशलता के साथ प्रयोग हुआ है, कई जगह जहाँ लेखक परकाया प्रवेश करते दिखाई देते हैं। मोगरी, स्कूली बैग, सुनयना और अक्षा इसके बेहतरीन उदाहरण हैं। ख़ासतौर पर स्कूल बैग कहानी के बाल पात्र वासु को पढ़कर मुंशी प्रेमचन्द की प्रसिद्ध कहानी ईदगाह के हामिद की याद ताज़ा हो जाती है,

कहानी 'स्कूल बैग' इस संकलन की महत्त्वपूर्ण कहानी है जो शायद प्रत्येक पाठक को पसंद आएगी। इस कहानी को राष्ट्रीय स्तर का प्रथम पुरस्कार भी हासिल हुआ है। निश्चित रूप से यह कहानी आज के एब्सर्ड कहानी के युग में अच्छी कहानियों के लिखे जाने का शुभ संकेत है। इनकी इस कहानी का महत्त्व और मूल्यांकन हिंदी साहित्य में ज़रूर होगा। कहानी में बच्चे का पिता एक परचून की दुकान सँभालते हैं और उनकी दुकान में आए हुए बीड़ी के विज्ञापन वाले थैले को वासु का स्कूल बैग बनाते हैं। वासु के स्कूल के सारे बच्चे नए फैंसी बैग लेकर आते हैं ऐसे में उस मासूम का कुंठित होना स्वाभाविक है...किस तरह वह अपने बीड़ी के विज्ञापन वाले बैग को सबसे छुपाने के जत्न करता है और बाद में उसी बैग पर चित्रकारी करके सबकी शाबासी पाता है; लेकिन उसकी माँ द्वारा एक दिन उस बैग को धो देने से उसकी सारी मेहनत धुल जाती है। वह मायूस हो जाता है। कहानी के अंत में माँ उसे समझाती है कि 'बेटा अच्छा आदमी बनने के लिए इन थैलों और बैग की ज़रूरत नहीं है। इनमें रखी किताबों का ज्ञान होना ज़रूरी है।' माँ द्वारा दिया गया यह ज्ञान इस कहानी का संदेश भी है जो बच्चे के लिए प्रेरणा का काम करता है।

सुनयना जहाँ ट्रांसजेंडर जैसी जटिल समस्याओं और सामाजिक अस्वीकार्यता के बीच परिजनों के द्वंद्व को अभिव्यक्त करने में पूर्णत: सफल रही है। आज के दौर में सांप्रदायिकता को संकीर्ण अर्थ में हिन्दू मुस्लिम तनाव से जोड़ा जा रहा है इस परिप्रेक्ष्य में मुरारी जी की कहानियाँ कुफ्र और गोजरपट्टी कि सरहद में गहरी अभिव्यंजना व्यक्त हुई है जो कि लेखक की संवेदनशील दृष्टि को ज़ाहिर करती है। 'गोजरपट्टी की सरहद' कहानी में बहत्तर साल के अब्दुल रहमान की सूझ बूझ और राष्ट्रभक्ति को दर्शाया गया है, जो अपने आतंकी पुत्र अब्दुल कासिम पंडित की लाश को अकेले खच्चर गाड़ी पर लादकर उसके गाँव गोजरपट्टी की सरहद के पार जाकर दफ़नाकर किसी तरह के साम्प्रदायिक उन्माद की स्थिति से घाटी को बचाता है। यह कहानी आदर्शवादी ज़रूर है लेकिन इंसानियत के मूल्यों से भरपूर है।

इस संकलन की प्रथम कहानी भोगाली में लेखक यौन शुचिता, नैतिकता, पवित्रता के जटिल द्वंद्व से झूलते पंडित मदन किशोर की मानस स्थिति को रेखांकित करने में सफल रहा है वहीं बेल्जियम की युवती इलियाना के यौन सम्बन्धों की खुली मानसिकता को रेखांकित करने में लेखक ने बहुत सावधानी दिखाई है। बतौर पंकज सुबीर भोगाली में भाषा और शिल्प के सुंदर प्रयोग से कहानी को उस दिशा में जाने से बचा लिया है, जिस दिशा में इस प्रकार की कहानियाँ अक्सर चली जाती है।

सारांशत: मुरारी गुप्ता के कहानी संकलन की प्रत्येक कहानी मानवीय जीवन से जुड़ी विभिन्न संवेनशील स्थितियों को शब्द सम्प्रेषित करने में पूर्णत: सफल रही है यही एक लेखक का सच्चा दायित्व है। कहानियों की भाषा आमफहम है ज़रूरत के अनुसार कहीं कहीं अंग्रेज़ी,उर्दू, फ़ारसी शब्दों का इस्तेमाल भी हुआ है। कहानियों के चरित्र हमें बहुत जाने पहचाने से और करीबी लगते हैं यह लेखक का सार्वभौमिक होना है और बड़ी सफलता भी है।

❐❐❐

द्वारा प्रो. अनिल जैन, 228,गली नं. 3 राजापार्क,जयपुर, 302004
मोबाइल : 9414742299
ईमेल : rewantdan@gmail.com

समीक्षा

उच्च शिक्षा का अंडरवर्ल्ड

समीक्षक : प्रकाश कांत
लेखक : जवाहर चौधरी
प्रकाशक : बोधि प्रकाशन

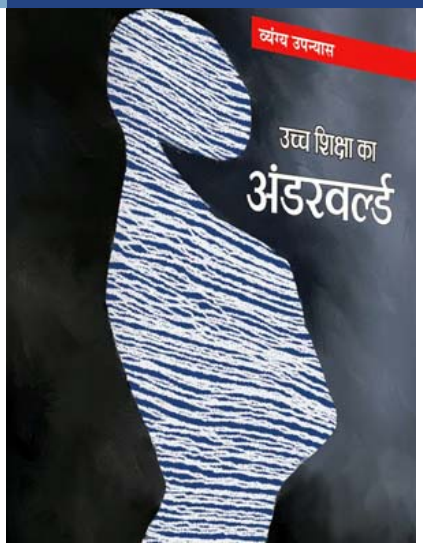

पश्चिमी देशों के विश्वविद्यालयों से अलग-अलग विषयों के तो कई-कई नोबेल लॉरेट निकलते हैं लेकिन हमारे यहाँ विश्वविद्यालय इस मामले में बंजर क्यों नज़र आते हैं- अक्सर किया जाने वाला यह सवाल हमारे उच्च शिक्षा संस्थानों पर असल में एक गम्भीर टिप्पणी है। वैसे, इस तरह की सवालनुमा टिप्पणी के जवाब में आम तौर पर यह भी कहा जाता है कि हमारे अधिकांश उच्च शिक्षा संस्थान घटिया राजनीति, टुच्चे किस्म के छोटे-बड़े षड्यंत्र और दीगर चीज़ों में ही अमूमन इतने व्यस्त रहते हैं कि वहाँ ठोस किस्म के अकादमिक कामों के लिए फुर्सत ही नहीं रहती। उच्च शिक्षा की वैश्विक रेटिंग लिस्ट में भारतीय विश्वविद्यालयों के दयनीय और दरिद्र प्रदर्शन को इस सन्दर्भ में देखा जा सकता है। वरिष्ठ व्यंग्यकार जवाहर चौधरी के व्यंग्य उपन्यास 'उच्च शिक्षा का अंडरवर्ल्ड' को इस सिलसिले में पढ़ा जाना चाहिए। यह उपन्यास उच्च शिक्षा संस्थानों में व्याप्त सड़ाँध और बजबजाती गन्दगी को बहुत तीखे ढंग से व्यक्त करता है। सरकारी-ग़ैर सरकारी कॉलेजों, विश्वविद्यालयों के चारित्रिक स्खलन को लेकर आए दिन जो तमाम तरह का पढ़ने-सुनने को मिला करता है यह उपन्यास एक गहरी व्यंग्य दृष्टि के साथ उसे ही भीतर-बाहर से खोलता है।

जवाहर चौधरी अपने इस उपन्यास में उच्च शिक्षा के क्षेत्र से जुड़ी हर छोटी-बड़ी चीज़ की ख़बर लेते हैं। चाहे फिर वीसी की कुतिया जूलिया (मेम साहब) का मसला हो या फिर प्राचार्य बनने, हटने-हटाने का खेल, शोध कार्यों का गोरखधन्धा और शोधार्थी का होने वाला दोहन हो या छात्र राजनीति के नाम पर प्राध्यापकों के प्रश्रय में पनप रही घिनौनी किस्म की गुण्डागर्दी उपन्यास हर चीज़ को उघाड़ता है। प्राध्यापकों की आपराधिक किस्म की गुटबाजी, आपसी टाँग खिंचाई, प्राध्यापकों की लम्पटता और शोहदा टाइप का छिछोरापन, प्राध्यापिकाओं द्वारा इस सब में किया जाने वाला रसग्रहण, भाषिक पतन वग़ैरह को जवाहर चौधरी जिस तरह से बिना किसी तरह की छूट लिए-दिए एक ख़ास तरह की सहजता के साथ रखते हैं, वह उच्च शिक्षा के इस स्वरूप की ज़रूरी चीरफाड़ करता है।

उपन्यास का व्यंग्य उसे छोटे-छोटे अध्यायों वाली एक कसी हुई छोटी कथा का रूप देकर उसमें एक तिलमिला देने वाला दंश पैदा करता है। उपन्यास में उच्च शिक्षा और उसके आवासीय परिसर से जुड़े कई छोटे-बड़े प्रसंग हैं जो व्यंग्य के इस दंश को निरन्तर गहरा करते चलते हैं। उपन्यास में कोई भी ऐसा असम्बद्ध प्रसंग नहीं है जो इस व्यंग्य को गहरा न करता हो! चाहे फिर स्वतन्त्रता दिवस का प्रसंग हो या डॉ. सिंह की पत्नी के चचेरे भाई का अपनी उत्तर पुस्तिका में नम्बर बढ़वाने का या फिर झाड़-फूँक वग़ैरह जैसे अन्ध विश्वासों का! प्राध्यापकों को समय पर आने-जाने, पढ़ाने वग़ैरह जैसे किसी भी काम के लिए कहे जाने पर सैद्धान्तिक किस्म की आपत्ति है। इन बातों को वे अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध मानते हैं। उनकी आपसी बातचीत, छींटाकशी उनके बौद्धिक औरनैतिक बौनेपन को उद्घाटित करती है।

उपन्यास में वीसी, डॉ. सिंह, डॉ. शुक्ला, मैडम यादकर, मैडम गुप्ता, वीसी की पत्नी, छबीली देवी जैसे कई पात्र हैं। छबीली देवी के सम्बन्ध-सम्पर्कों से ही उनके पति को वीसी पद प्राप्त हो पाया है। बकौल नेरेटर शिक्षा मंत्री जैसे कई असरदार लोग कभी उनके यहाँ 'पड़े रहा करते थे।' इसी 'पड़े रहने' का सुफल उनके पति को वीसी के पद रूप में प्राप्त हुआ। विश्व विद्यालय परिसर में भी उन्होंने डॉ. सिंह जैसे को 'अटका' रखा है। यही छबीली देवी (विसीआईन) अपने पीहर से साथ में जो कुतिया (जूलिया मेम साहब) लाई हैं वह एक तरह से इस उपन्यास की केन्द्रीय पात्र है। उपन्यास शुरू उसके प्रसव से होता है और ख़त्म उसकी संदिग्ध समझी जा रही मौत के प्रसंग पर! बीच में बहुत कुछ है। एक विज्ञान शोधार्थी का रोज़ सबेरे जूलिया मेम साहब को घुमाने ले जाने की ड्यूटी पर लगाया जाना, जूलिया का अचानक गुम होना और फिर मिल जाना, परस्पर प्रतिद्वन्द्वी डॉ. शुक्ला और डॉ. सिंह का जूलिया की हर तरह की चाकरी में तैनात रहना और अन्ततः इस मेम साहब का गुज़र कर पूरे आवासीय परिसर को शोक सन्तप्त (!) कर जाना। पूरा जूलिया प्रसंग उपन्यास के मूल व्यंग्य स्वर को तीखा बनाए रखता है। जवाहर चौधरी ने कहानियाँ भी लिखी हैं। 'सफर में अकेली लड़की' और 'सॉरी जगदीश्वर' उनके कहानी संग्रह हैं। उनकी कहानियों में जहाँ व्यंग्य दृष्टि है वहीं उनके व्यंग्य आलेखों में कई जगह कथात्मक ढाँच! उनके इस उपन्यास में कथात्मक ढाँचा और प्रखर व्यंग्य दृष्टि दोनों हैं। एक बहुत महीन और छोटे कथासूत्र से बुने गए इस उपन्यास की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उसके छोटे-

छोटे कथा प्रसंगों और बातचीत, संवादों के बीच से स्वत: उभरने वाला व्यंग्य है। जवाहर चौधरी इसके लिए अलग से कोई अतिरिक्त प्रयास नहीं करते। छोटे-बड़े सत्ताईस अध्यायों के शीर्षक ही एक सम्पूर्ण व्यंग्य का एहसास करवाते हैं : कुतिया के पेट से पैदा हुई किस्मत, गुलाबी गाउन और बेकवर्ड ब्रेम्हिन, बिस्तर पर लेटा नसीब, मेनेजमेंट का साँड, उच्च शिक्षा में उमराव जान इत्यादि।

जवाहर चौधरी के पास व्यंग्य की अपनी भाषा है। जिसका इस्तेमाल वे अपनी 'कहन' में भी करते हैं और पात्रों के संवादों में भी : 'इज़्ज़त तो आज गई कल फिर कमाई जा सकती है लेकिन नौकरी! ना बाबा, बार बार नहीं मिलती' (मि. गुप्ता, पृ. 57)/ 'वैसे उन्हें दिल तोड़ने का ख़ासा अनुभव है। पन्द्रह साल की उम्र में इसकी शुरूआत उन्होंने अपने मोहल्ले से की थी और बाद में हर साल ही एक-दो दिल तोड़ने का उनका रिकार्ड है। उनके हाथों टूटे दिल आज भी कई घरों में वापरे जा रहे हैं।' (पृ. 58)/ 'सब जानते हैं कि मेनेजमेंट में आजकल आदमीनुमा साँड बैठे हैं और जो लाल शिफान पहनी सुन्दरियों के भड़काने पर ऐसे भड़कते हैं कि असली साँडों का मॉरल डाउन हो जाए! (पृ. 104)'

उपन्यास का बड़ा हिस्सा संवादात्मक है। संवादों के बीच से ही उपन्यास की मूल कथा खुलती और अपना आकार लेती है। ख़ासकर प्राध्यापकों के बीच के संवादों के बीच से। संवादों के जरिए उभरने वाला व्यंग्य और परिस्थितिजन्य व्यंग्य इन दोनों के जरिए पूरे उपन्यास में व्यंग्य का स्वर एक जैसा बना रहता है। वह कहीं धीमा नहीं पड़ता। जबकि उपन्यास में तो ठीक कहानी या आलेख तक में उसका कई बार पूरी तरह से निर्वाह होता नहीं मिलता।

ख़ैर, इस उपन्यास उच्च शिक्षा का अंडरवर्ल्ड में उच्च शिक्षा के अंडरवर्ल्ड के विभिन्न पक्षों का माफिया चेहरा व्यंग्य की गहरी रेखाओं के जरिए साफ़-साफ़ उभरकर सामने आता है।

❑❑❑

155, एलआईजी, मुखर्जी नगर,
देवास-455001 (म.प्र.)
मोबाइल 09407416269

पुस्तक चर्चा

पेड़ों पर हैं मछलियाँ

समीक्षक : अमरेंद्र मिश्र
लेखक: प्रतिभा चौहान
प्रकाशक: बोधि प्रकाशन

'पेड़ों पर हैं मछलियाँ', सुपरिचित कवयित्री प्रतिभा चौहान की कुल सतहत्तर कविताओं का पहला संग्रह है। संग्रह के आरंभ में वह इस सच को व्याख्यायित करती हैं कि 'वर्तमान जीवन-जगत से जुड़े हुए सभी मुद्दों के प्रति सजगता ही मेरी कविता की आत्मा है, सामाजिकता के आह्वान के बिना सामाजिक उत्तरदायित्व पूरा नहीं किया जा सकता।' एक कवि की यह रचनात्मक स्वीकृति उसके सृजन के सच को उद्घाटित करती है जो संग्रह की इन कविताओं में सहज ही दिख पड़ती है। ये कविताएँ विभिन्न मूड की कविताएँ हैं जिनके 'शेड्स' अलग-अलग दिख जाते हैं और कहना होगा कि यही इनकी रचनात्मक ऊर्जा भी है।

प्रतिभा चौहान का यह प्रथम संग्रह है लेकिन समीक्षा के तहत यह बात कोई मायने नहीं रखती। ये कविताएँ उनके दूसरे-तीसरे या चौथे संग्रह में भी आई होतीं तो भी इनका रचनात्मक कौशल उतना ही उम्दा होता जितना पहले संग्रह में शामिल होकर पाठकों के सामने आई हैं। हर रचनाकार, चाहे वह लेखक हो या कवि, अपने पहले संग्रह की तैयारी में अतिरिक्त सतर्कता का परिचय देता है क्योंकि संग्रह के साथ उसकी सृजनात्मकता उसके हस्ताक्षर के साथ इसी से आरंभ होती है और इस संग्रह को देख यह बात सहज रूप से महसूस की जा सकती है कि प्रतिभा चौहान ने अपनी कविताओं के चयन में वही सावधानी बरती हैं जो इनकी रचनात्मकता के प्रति निष्पक्ष चयन को बिंबित करती हैं। ये सतहत्तर कविताएँ विविध जीवनगत सत्य को उजागर करती हैं।

'फूलों का जलना, पहाड़ों का गिरना, झरनों का जम जाना,पेड़ों का उखड़ना लिख जाता है। यही यथार्थ है, यही सच है, और मनुष्य तथा समाज की यही विडंबना है कि उसने हमेशा ही सच और यथार्थ को झुठलाया है।' यहाँ कवि सचेत और अपने सृजन के प्रति बेहद ईमानदार है--'तुमने ज़रूर मिट्टी के लोंदो से कुछ विनाश की पुतलियाँ तैयार की हैं, जो धरा की ग़ज़ल को शोकगीत में परिवर्तित करने की साज़िश रच रही है।'

और फिर कविता एक आशा में खिल जाती है। एक तरफ़ यह कटु यथार्थ है तो दूसरी तरफ़ एक ऐसी आशावादिता भी है जिससे कविता मह-मह करने लगती है। प्रतिभा चौहान का कवि आशावादी कवि है।

'पेड़ों पर हैं मछलियाँ' में विविध रंगी कविताएँ हैं। अगर पूरा संग्रह एक ही बार में पढ़ा जाए तो ऐसा नहीं कि आपको एकरसता की अनुभूति होगी। इसमें प्रेम है तो आँसू भी हैं, रिश्ते की रूबाइयाँ हैं, अतीत का गौरव गान है, कविता की संस्कृति है तो वहीं सड़क के आदमी की चिंता के साथ-साथ विस्थापन का दर्द भी है। प्रतिभा चौहान का कवि बड़ा कवि है। बड़ा कवि वह होता है जो अपने आसपास से सचेत होता है, यथार्थ का पक्षधर होता है और जीवन के सवालों से जूझता रहता है।

'शिकार चाहे जानवर का हो या इंसान का / खून जानवर का बहे / या इंसान का कोई फर्क नहीं पड़ता।' इन कविताओं की भावभूमि विशद है और अनुभव के ताप से तपकर ये रची गई हैं। हम सहज ही यह आशा करते हैं कि आनेवाले अपने ताज़ा संग्रहों के माध्यम से वह और अधिक उम्दा रचनाओं के साथ अपने पाठकों के समक्ष आएँगी।

❑❑❑

संपादक 'समहुत', 4/516 पार्क एवेन्यू, वैशाली, गाजियाबाद-201010
amarabhi019@gmail.com

समीक्षा

मैं शबाना

समीक्षक : फारूक़ आफरीदी
लेखक : यूसुफ़ रईस
प्रकाशक : नोशन प्रकाशन

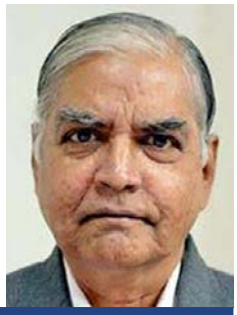

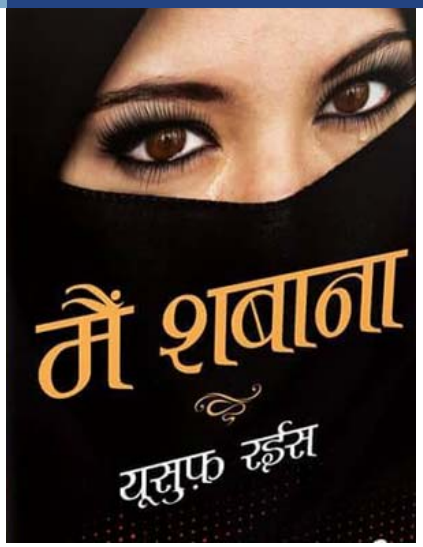

मुस्लिम परिवेश और उसमें भी महिलाओं की स्थिति को लेकर हिंदी उपन्यास यों तो पहले भी खूब लिखे जाते रहें हैं किन्तु युसूफ रईस का ताज़ा उपन्यास 'मैं शबाना' मुस्लिम औरत की जद्दोजहद भरी ज़िंदगी से सीधा रू-ब-रू कराता है। यह रईस का पहला ही उपन्यास है लेकिन इसकी भाषा शैली, कथ्य और शिल्प से ऐसा नहीं लगता कि वह किसी स्तर पर कमज़ोर है।

शबाना इस उपन्यास का मुख्य किरदार है और सारी कथा इसके इर्दगिर्द ही घूमती दिखाई देती है। इसकी कथा को कुछ इस तरह बुना गया है जिसके जरिए मुस्लिम स्त्रियों के अधिकारों पर कुठाराघात, उनके प्रति समाज के ग़ैर ज़िम्मेदार और उपेक्षापूर्ण रवैये और सामाजिक सोच को बखूबी समझा जा सकता है। उपन्यासकार ने इसे आज के तीन दशक पहले के हवाले से रचते हुए मौजूदा दौर तक ला खड़ा किया है।

शबाना एक अच्छे ख़ासे खाते-पीते जागीरदार परिवार की महिला है। उसकी तालीम और परवरिश भी उसी के अनुरूप हुई और व्यस्क होने पर एक बराबर के ही ख़ानदान के नौजवान असलम से उसका निकाह हो जाता है। वह अपने होने वाले शौहर और उसके ख़ानदान के बारे में पहले से कुछ नहीं जानती। शादी से पहले वह अपनी माँ से सवाल पूछती है- ''मैं जिस घर में जा रही हूँ, वहाँ के लोग कैसे हैं ? क्या मुझे ये जानने का हक़ नहीं था ? आपने मेरे हक़ में बेहतर ही किया होगा लेकिन मैं कोई बेजान खिलौना तो नहीं; जिसे आप सजा कर जिसे चाहें सौंप दें?'' माँ जवाब देती है- ''ये औरतों की बदक़िस्मती है कि वो अपनी ज़िंदगी का कोई फैसला नहीं कर सकती है।'' शबाना का शक सही निकलता है क्योंकि ससुराल पहुँचने पर उसे पता चलता है कि जिससे उसका निकाह हुआ, वह शख्स किसी दूसरी लड़की से मुहब्बत करता है मगर उसकी मर्ज़ी को तवज्जो देने का तो वहाँ कोई रिवाज ही नहीं था। सुहागरात के दिन से ही उसके और शबाना के बीच दांपत्य जीवन के वे तार नहीं जुड़े जिनकी दाम्पत्य जीवन की नींव में ज़रूरी दरकार होती है। इससे शबाना बिलख पडती है किन्तु उसने प्रण कर लिया है कि वह एक दिन असलम का दिल जीतने में कामयाब हो जाएगी। उसे अपनी फूफी जान की यह बात याद आ गई कि ''मर्द भले ही दिन भर काबू में ना आए लेकिन बिस्तर पर उसे शीशे में उतारा जा सकता है।'' मगर उसे वह तरकीब मालूम ना थी। संयोगवश इन कोशिशों के बीच शबाना की माँ के दुर्घटना के हादसे ने दोनों को एक दूसरे के करीब लाने में मदद की जिससे दोनों में मुहब्बत के पुष्प पल्लवित होने लगे। माँ की दुर्घटना के दौरान ही शबाना को अपने और पराए के बीच के रिश्तों की पहचान होती है। घर में उसके मूक बधिर छोटे भाई जुबैर की देखभाल करने को लेकर चिंता और गहरी हो जाती है। एक भाई अपनी पढ़ाई में मशगूल है। ऐसे ही समय में शबाना अपने ससुराल की एक अजब कहानी से भी रू-ब-रू होती है। असलम, उसके पिता और बड़े भाइयों में आपस में सदभाव का कोई रिश्ता ही नहीं है। सब अपने-अपने फ़ायदों के लिए जी रहे हैं। सब एक बड़ी हवेली में तो ज़रूर रहते हैं लेकिन उनके दिलों में अप्रत्यक्ष दीवार खींची हुई है। किसी का भी एक दूसरे से सलाम दुआ के अलावा कोई वास्ता नहीं है। शबाना की चूँकि सास नहीं है इसलिए उसके ससुर ने ही बहुओं को रसोई की ज़िम्मेदारी बाँट रखी है और वे ही तमाम फ़ैसलों के खुद मुख़्तार हैं।

शबाना को अपनी जेठानी के जरिये यह बात मालूम होती है कि उसके सबसे बड़े जेठ ज़ुल्फ़िकार चरित्र के मामले में हद दर्जे तक गिरे हुए एक गलीच किस्म के इन्सान हैं और अपनी ही साली तक को हवस का शिकार बना चुके हैं, जिसने बाद में आत्म हत्या कर ली और इसके बाद उनकी पत्नी उन्हें छोड़कर हमेशा-हमेशा के लिए उनकी ज़िंदगी से जा चुकी है। यह सुनकर शबाना बुरी तरह घबरा जाती है। वह जब दुल्हन बनकर हवेली में आई तभी से ज़ुल्फ़िकार उस पर बुरी नज़र रखने लगे, लेकिन वह उससे बचने की हर चन्द कोशिश करती रही ताकि कोई अनहोनी ना हो जाए। सब कुछ पटरी पर चल रहा होता है और उसको पहला बच्चा भी हो जाता है किन्तु शबाना की क़िस्मत को कुछ और ही मंजूर था और एक दिन अचानक मौका पाकर ज़ुल्फ़िकार अपनी अश्लील हरकत कर बैठता है। शबाना इस घटना के बाद भीतर तक आहत हो जाती है। शैहर असलम ने जब यह क़िस्सा सुना तो वह अपने भाई की जलील हरकत पर इतना आग बबूला होता है कि काटो तो खून नहीं; लेकिन शबाना उन्हें ऐसा कोई कदम उठाने से रोक लेती है जिससे उनकी रुसवाई हो। इस घटना के बाद ज़ुल्फ़िकार घर से नदारद हो जाता है। इस स्थिति में दोनों अगले ही दिन हवेली छोड़ने का फ़ैसला कर लेते हैं। अन्य व्यवस्था होने तक असलम

अपनी पत्नी शबाना को उसके पिता के घर छोड़ आते हैं और किराए का घर तलाशने निकल पड़ते है। वे घर तलाश भी कर लेते हैं लेकिन वह इतना जर्जर होता है कि उसमें दाखिल होने से पहले ही छज्जे से गिरकर उनकी मौत हो जाती है। इस तरह शबाना पर यह दूसरा पहाड़ टूट पड़ता है। इसके बाद शबाना के लिए जैसे क़यामत आ गई।

उपन्यास की भाषा, शैली, कथ्य और शिल्प को लेकर कहा जा सकता है कि उपन्यासकार ने बहुत सावधानी बरती है। भाषा की रोचकता इतनी प्रभावी बन पड़ी है कि पाठक एक बार पढ़ना प्रारम्भ कर दे तो उसे बीच में छोड़ना नहीं चाहेगा। उपन्यास इस खूबी से भरा हुआ है कि पाठक की उत्सुकता निरंतर बनी रहती है कि उसमें आगे क्या होने वाला है। उपन्यास की एक विशेषता यह भी है कि वह अनुमान नहीं लगा सकता कि उसका अंत कैसे और कहाँ होगा, अन्यथा कई फ़िल्मों को देखते हुए या उपन्यासों को पढ़ते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कहानी अब क्या मोड़ लेने वाली है। उपन्यास चूँकि मुस्लिम परिवेश से जुड़ा हुआ है तो स्वाभाविक है कि मुस्लिम समाज के रीति रिवाजों और संस्कारों से भी परिचित कराता है। इस उपन्यास में नायिका को लेकर कई मोड़ आते हैं जो उसकी त्रासदी से जुड़े हुए हैं। यह उपन्यास मूलत: नायिका के विषादों और आँसुओं की गाथा है जिसमें खुशियों के पल तो कभी कभार रेगिस्तान में बारिश की आँधी भरी बूँदों की तरह आते हैं। उपन्यास की नायिका के जीवन में दुखों के पहाड़ ही पहाड़ खड़े हैं। जीवन में कहीं यदि नदियाँ हैं भी तो वे भी एकदम सूखी हुई हैं। नायिका की बागडोर ऊपर वाले के हाथ में है और उसे संघर्षों से निरंतर जूझते हुए दरिया को पार करना है। कभी-कभी उसे किसी तिनके का सहारा भी मिल जाता है जिसकी वह कल्पना भी नहीं कर सकती। उसे अपनी अस्मिता को बचाए रखने के लिए पग-पग पर इम्तहान से गुज़रना पड़ता है। उसके लिए ना कोई रिश्ते हैं ना नाते। जीवन में उसे शून्य बिंदु से आगे बढ़ना है और जीने के लिए खुद ही को नए रिश्ते गड़ने हैं। हर मोड़ पर उसे एक अंधी गली से गुज़रते हुए अपनी मंज़िल तलाश करनी है। उसे अपनी बदनसीब ज़िंदगी को नसीब में बदलने की आकांक्षा के साथ बिना थके एक तपते हुए रेगिस्तान में मीलों चलना और अपना बिना किसी मार्गदर्शक या सहारे के अपना गंतव्य तलाशना है। नायिका कई बार टूटती-बिखरती है। अपने वुजूद को मिटाकर समाज की दर-दर ठोकरें खाने और फिर संभलते रहना ही उसकी नियति है। उसे अपनी ज़िंदगी से कोई प्यार या लगाव नहीं रह गया है अपितु वह अपने दो बच्चों के भविष्य को सँवारने के यज्ञ में आहुति दे रही है। उसकी जीवटता और जिजीविषा ही उसे ज़िंदा रखे हुए है। वह हारती नहीं है जबकि ज़िंदगी और समाज उसे पल-पल हराने की होड़ में लगा हुआ है। ज़िंदगी के ख़ौफ़नाक हादसे शायद उसका हर वक़्त इम्तहान लेते रहते हैं किन्तु वह हर बार लड़खड़ाती हुई उठ खड़ी होती है। उसने अपने सारे सुखों को एक गठरी में बाँधकर मानो समंदर में फेंक दिया है।

'मैं शबाना' का एक दर्दनाक पहलू यह भी कि है जब पिता के चाहने पर अपनी विधवा पुत्री को वे अपनी ज़मीन जायदाद का एक चौथाई हिस्सा देना चाहते हैं तब सगा भाई कदीर और भाभी ताहा उसके दुश्मन बन जाते हैं और दबाव बनाकर उस दुखयारी बहन से अपना हक़ छोड़ देने के काग़ज़ातों पर दस्तख़त करवाकर उसे घर से बेदखल तक कर देते हैं। अपने ससुराल हारी और धक्के खाने के बाद उसे अपने उस घर से भी निकाल दिया जाता है, जहाँ वह पैदा हुई, पली-बढ़ी हुई और ससुराल गई। इससे बड़ा सदमा एक औरत के लिए और क्या हो सकता है। यह सदमा भी उसने रोते बिलखते झेला लेकिन किसी को उसके हालत पर रत्ती भर तरस नहीं आया। अपने पिता और भैया भाभी के होते हुए भी उसे फिर एक अँधेरी गुफा की तरफ बढ़ना पड़ा जहाँ उसके सामने कोई राह नहीं थी। ज़िंदगी की उधेड़बुन में वह बिना कुछ सोचे समझे एक ट्रेन में चढ़ जाती है, जिसमें हाथ की कारीगर कुछ ग़रीब परिवार की देहाती महिलाएँ सफ़र कर रही होती हैं। शबाना उन्हीं के बीच संवाद बनाकर अपनी ज़िंदगी की अगली राह चुनने लगती है। वह अपने सारे अरमानों को यादों की संदूक में क़ैद कर एक साधारण मज़दूर बनकर उनके साथ रहने लगती है, जिसमें उन अनपढ़ और गँवई महिलाओं का उसे भरपूर सहयोग मिलता है। यहीं उसे अकेले जीने का बड़ा हौसला मिलता है। यहीं उसे इस बेदर्द दुनिया से अपनी भाषा और शैली के साथ अपना जीवन जीने का सलीक़ा मिलता है। अंतत: वह एक स्लम बस्ती में अपना डेरा डाल कर अपने बच्चों की परवरिश करने लगती है। उसने यहाँ रहकर फिर पलटकर कभी अपनी पिछली ज़िंदगी की ओर नहीं झाँका। अभावों की ज़िंदगी को ही वह अपनी ताकत बना लेती है।

एक बार नायिका अपनी बेटी के गंभीर रूप से बीमार हो जाने पर उसका जीवन बचाने और इलाज के लिए अपने जीवन का सौदा तक करने को भी राज़ी हो जाती है, हालाँकि उसके साथ ऐसा वैसा हादसा नहीं होता है जिसकी कल्पना करना औरत लिए भयावह है। बावजूद इसके उसके द्वारा हाँ कहना ही उसकी ज़िंदगी का नासूर बन जाता है जिसकेके पश्चाताप की आग में जलते हुए वह अपनी जवान युवती के लिए मौत का फंदा बन जाती है। यह उसके जीवन की सबसे घातक और दर्दनाक और जीवन भर सालते रहने वाली घटना के रूप में सामने आती है जो उसके जीते जी अवसाद भरी है। यह ऐसी दुर्घटना है जो उसको हमेशा के लिए किसी अंधे कुँए में धकेलने जैसी साबित होती है। नायिका ने अपने बच्चों के भविष्य को लेकर जिन अरमानों के साथ ज़िंदगी की लम्बी जंग लड़ी, बिटिया को पढ़ाया-लिखाया और जवान किया उसके हाथ पीले नहीं कर सकी और हमेशा के लिए उसे खो दिया। ज़िंदगी भर जो औरत वह बड़े से बड़े और कड़े से कड़े इम्तहानों में पास होती रही वही अपने आख़िरी इम्तहान में हार गई।

यह उपन्यास आज के समाज के नंगे सच को बयान करता है। इस नंगे सच से मुस्लिम समाज की अनेक शबानाएँ ही नहीं बल्कि भारतीय समाज की अन्यानेक औरतें भी इन्हीं हादसों से गुज़रती हैं। समाज भले ही आधुनिकता का दावा करे किन्तु औरतों के प्रति हमारी धारणाएँ आज भी बहुत अधिक नहीं बदली हैं। महिलाओं के हितों पर आज भी ज़बरदस्त कुठाराघात होता है जिसका ख़ामियाजा उनके मासूम और बेक़सूर बच्चों को भी भुगतान पड़ता है।

हमारे सारे नियम भले ही महिला और बाल अधिकारों की वकालत करते हों, लेकिन उनको वास्तविक अधिकारों की प्राप्ति अभी भी दूर की कौड़ी है। ऐसे में पीड़ित महिलाएँ या तो अपनी जीवन लीला समाप्त कर लेती हैं या नारकीय जीवन जीने को विवश हैं। पुरुष सत्तात्मक समाज का घिनौना चेहरा उपन्यास में नज़र आता है।

उपन्यासकार युसूफ रईस ने 'मैं शबाना' के जरिये समाज के रीति रिवाजों की बजाय मनुष्य के चेहरे के पीछे छिपे चेहरे को बेनकाब करने की कोशिश की है। इन अर्थों में यह उपन्यास झकझोर देने वाला है। यह उपन्यास इन मायनों में भी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें कहानियों का कोई गुम्फन भर नहीं है बल्कि नायिका को केंद्र में रखकर आगे बढ़ता जाता है और समाज के ओछेपन, टुच्चेपन, स्वार्थ, अहंकार और हीनता की परत दर परत खोलता है। यह उपन्यास समाज को निश्चय ही उद्वेलित करेगा और पाठक इसका स्वागत करेंगे।

शबाना एक थकी हारी महिला के रूप में अपनी जिंदगी से निहत्थी रहकर अकेली लड़ाई लड़ती हुई प्रतीत होती है। 'मैं शबाना' जीवन से हारी हुई एक बेसहारा औरत उथल-पुथल और संघर्ष भरे जीवन की अमर गाथा है जो हारकर भी जीती है। उसकी हार समाज और व्यवस्था की हार नहीं बल्कि उस पर एक तमाचा है। यह एक यथार्थपरक उपन्यास है जो पाठक को बार-बार रुला देता है और यही इसकी एक बड़ी कामयाबी है। आज जब साम्प्रदायिकता को लेकर अनेक चुनौतियाँ हैं तब यह उपन्यास इसे ख़ारिज करता हुआ कहता है कि असली चुनौती, ग़रीबी, भूख, हाशिये पर जा चुके परिवारों को संबल प्रदान करने की है जिन पर किसी का ध्यान नहीं जाता। सामाजिक समानता के ढोंग और इन्सान की घटिया सोच इसके लिए ज़िम्मेदार है। ये चुनौतियाँ महिलाओं की दशा को लेकर और भी भयावह हैं।

❐❐❐

फारूक आफरीदी, बी-70/102, प्रगति पथ, बजाजनगर, जयपुर-302015
मोबाइल: 9414335772/ 92143 35772
ईमेल: faindiaw015@gmail.com
farooqgandhi@gmail.com

पुस्तक चर्चा

एक थका हुआ सच

समीक्षक : मंजू महिमा
लेखक: अतिया दाऊद
अनुवाद: देवी नागरानी

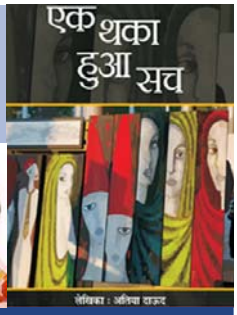

'एक थका हुआ सच' अतिया दाउद द्वारा रूह की कलम से छनकर खून की स्याही से लिखा हुआ एक कड़वा सच है, जो नश्तर की तरह हर औरत की रूह को चीरता हुआ लहुलुहान कर देता है। यह एक ऐसा सच है जिसे हर औरत अपने सिले होंठों से सीने में दफ़न किए हुए है...डरती है कि कहीं ये भूत की तरह सामने आकर उसके तथाकथित गृहस्थी के 'महल' को ढहा न दे, जिसकी नींव में उसकी ख़्वाहिशों की ईंटें दबी है। अतिया दाउद के इस साहसिक कदम को सलाम है। 'एक थका हुआ सच' नाम बड़ा ही सार्थक लगता है क्योंकि सदियों से ही यह सच्चाई, ज्यों की त्यों चल रही है, इसमें कहीं कोई बदलाव नहीं है, इसीलिए यह सच जैसे अब थकने लगा है, मर्दों की फ़ितरत बदलने में ऐसा लगता है, लाख कोशिशों के बावजूद अभी और समय लगेगा। सिले हुए होंठ जब बोलने को विवश हो उठते हैं, तो टाँकों में ऐसा ही रिसाव लाज़मी हो जाता है। कतरा-कतरा खून का टपक रहा हो जैसे टप..टप..!

एक भोगा हुआ सच इस बेबाकी से बयाँ करना एक औरत के लिए इतना आसान नहीं होता, इसके लिए एक तपिश, हौसला और रूहानी ताक़त चाहिए जो मैं अतिया जी में देख रही हूँ। बचपन से ही एक बंधुआ मज़दूर की तरह लड़की को पुरुष का सम्मान करना, उसे अपना मालिक समझना, उसके रहमोकरम पर जीना, उसके प्रति वफ़ादार रहना, उसे ख़ुदा का दर्जा देना (चाहे वह पिता हो, पति हो, भाई हो या बेटा हो...) जन्मघुट्टी की तरह पिला दिया जाता है और औरत बनने के बाद भी वक़्त-वक़्त पर उसे ठोंक-ठोंक कर याद दिला दिया जाता है कि उसका वजूद जो भी है, आदमी की ही इनायत है, जिसके लिए अतिया जी ने बड़ी ही संजीदगी से बयाँ किया है।

अतिया जी का अंदाज़े बयाँ और लफ़्ज़ों का इस्तेमाल सच ही काबिले तारीफ़ है। एक एक लफ़्ज़ तीर की तरह निशाने पर लगता है और पढ़ने वाले के दिल में कसमसाहट पैदा करता है। मैं यह निश्चित रूप से कह सकती हूँ कि यदि अतिया जी की कविताओं को कोई मर्द पढ़े तो वह भी इनके लफ़्ज़ों की तल्खी/तल्खियत से पानी-पानी हो जाएगा, उसे शर्मिंदगी महसूस ज़रूर होगी। अतिया जी की संवेदनशीलता की दाद दिए बिना नहीं रहा जा सकता। इतना ही नहीं, बहुत से प्रतीक और उपमाएँ बहुत ही अनूठी और मोलिक हैं-जैसे- चीरे हुए मुर्गे की तरह तड़प, तंग दिली का क़िला, मसलिहत की छत, फरेब का फर्श, ख़्वाहिश के अंधे घोड़े, आँखों के बरसते बाण, बारिश में डरी हुई बिल्ली की मानिंद, बे-ऐतबारी की झुर्रियाँ आदि।

अतिया जी सिन्धी भाषा की बहुत ऊँची लेखिका हैं और जिस गहराई में जाकर उन्होंने अपने ज़ज्बातों और लफ़्ज़ों को तराशा है, और दिल में उतर जाने वाले अनुवाद को पढ़कर यह साफ़ लगता है कि उसी गहराई में अनुवादिका देवी नागरानी भी उतरी हैं। अनुवाद का कार्य एक जटिल प्रक्रिया है, जिसमें अपने नहीं एक अजनबी के भावों की अभिव्यक्ति होती है और उसका सही सम्प्रेषण होना ही अनुवादक की सफलता की कसौटी है।

❐❐❐

मंजु महिमा
मोबाइल : 09925220177,
ईमेल : manjumahimab8@gmail.com

शोध समीक्षा

नैनसी का धूड़ा

शोध समीक्षक : श्वेता बर्नवाल

लेखक : स्वयं प्रकाश

संचयन : रचना सिंह

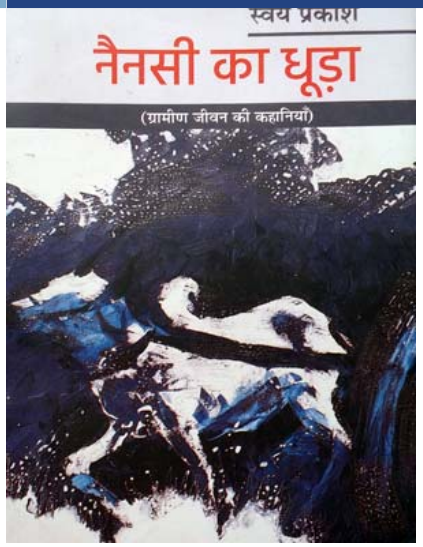

समकालीन कहानीकार स्वयं प्रकाश का 'नैनसी का धूड़ा' उनकी कुल बारह कहानियों का संग्रह है। इस संग्रह की कहानियाँ अपनी स्थूल भावुकता से पाठकों को बहलाती नहीं, बल्कि ये कहानियाँ ग्रामीण जीवन और वहाँ पर रचे-बसे लोगों का सत्य उजागर करती हैं। इन कहानियों से गुज़रते समय सम्पूर्ण कथानक एक प्रभावशाली विचार के रूप में हमारे मस्तिष्क में ध्वनित होने लगता है।

स्वयं प्रकाश की इन कहानियों में कथ्य की नवीनता के साथ-साथ भाषा और शिल्प की ताजगी भी है। पठनीयता से भरपूर इन कथाओं में ग्रामीण जीवन के तमाम रंग हैं। ग्रामीण पृष्ठभूमि में रचे-बसे इन पात्रों की वेदना, विवशता, संघर्ष, ध्वंस, टीस आदि इस कदर व्यक्त हुई है, जो पाठकों के मन को आहत, मस्तिष्क को आवेशित करती है। इनकी इन कहानियों का मूल कथ्य ग्राम जीवन पर आधारित होने के कारण इन्हें कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद की परंपरा से जोड़कर भी देखा जा सकता है। दोनों रचनाकारों ने ग्रामीण जीवन पर लिखा है, लेकिन अलग-अलग देश, काल, वातावरण के कारण दोनों लेखकों की रचना-प्रक्रिया, कथ्य शिल्प आदि में भिन्नता है। प्रेमचंद के समय साम्राज्यवाद और सामंतवाद से जनता संघर्ष कर रही थी, जिसे उन्होंने कहानी का विषय बनाया। स्वयं प्रकाश के समय देश आजाद हो गया था, ज़मींदारी उन्मूलन भी हो गया था। ज़मींदार के रूप में ठेकेदार और पूँजीपति शोषणकारी शक्तियाँ पनप रही थीं, लेकिन सामाजिक ढ़ाँचे में कोई बदलाव नहीं आया। ज़मींदारी ख़त्म होने के बाद भी जमींदारों और पूँजीपतियों द्वारा शोषण समाज में बरकरार है।

भारतीय सामाजिक संरचना की तरह ही यहाँ के गाँवों में भी वर्ण व्यवस्था व्याप्त है और इस व्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर दलित समाज है। हिन्दी कहानियों में दलितों की उपेक्षा की अभिव्यक्ति का जो सिलसिला प्रेमचंद की कहानी 'ठाकुर का कुआँ' से शुरू हुआ था, वह आज इक्कीसवीं सदी में भी जारी है। इससे एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि दलितों का शोषण आज की तारीख में भी हो रहा है, भले ही संविधान में अस्पृश्यता उन्मूलन संबंधी कानून बना दिए गए हों। दरअसल जाति व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है जिसका जन्म ही शोषण, दमन और उत्पीड़न के लिए हुआ है तथा इसका सम्बन्ध दमनकारी प्रवृतियों से है। कुछ जातियों का उदय ही संरक्षक अथवा मालिक की भूमिका निभाने के लिए हुआ है तथा कुछ कुछ की सेवा करने के लिए, किन्तु आज़ादी के बाद जैसे-जैसे दलितों में शिक्षा के कारण ज्ञान तथा आत्मसम्मान का विकास हुआ है उसकी स्थिति थोड़ी मज़बूत हुई है। वे अपनी अस्मिता के प्रति और अधिक सचेत होते हुए सामूहिक रूप से सामंतों, महाजनों के शोषण व दमनपूर्ण रवैये के खिलाफ लड़ने के लिए मैदान में उतर आए हैं।

'जो हो रहा है' में स्वयं प्रकाश ने समाज के वर्तमान की इसी तस्वीर को उकेरते हुए बदलते भविष्य को आँखें दी हैं। एक नीची जाति के बच्चों से उच्च जाति का शिक्षक कैसा व्यवहार करता है व अपने उस काम पर उसे ज़रा सी शर्म न महसूस हो। उस जगह उसे अपना अधिकार मानना, उस तथाकथित असंतुलित समाज की असंतुलित सोच को ही दर्शाता है। इसे कहानी का निम्नलिखित वाक्य प्रामाणित करता है -''राम राम कैसा पापी है! मास्टर साहब को मारा? ....इन सालों को तो जूती के नीचे रखो। बड़े-बड़ेरे कोई ग़लत थोड़े ही कहते थे। इनका खून ही हराम का है और एक नीच और पकड़ लाया है शहर से साथ में ....।'' (पृष्ठ - 46)

रचनाकार ने स्पष्ट किया है कि जब तक स्वयं रंजीत जैसे जागरूक पीड़क इसके खिलाफ सशस्त्र सज्ञान आवाज़ नहीं उठाते, एक नहीं होते इस असंतुलित मस्तिष्क धारी समाज का दिमाग ठिकाने नहीं लगेगा। कथानायक रंजीत कहता है-''तुम धमकी देते हो कि पीछे से मेरी माँ को सताओगे? ...वो ज़माना गया जब तुम्हारी धौंस चल जाती थी गरीबों पर। और तुम हो क्या? और अपने आप को समझ क्या रहे हो? अपनी औक़ात तो देखो ज़रा...।'' (पृष्ठ - 51)

'सूरज कब निकलेगा' भी एक यथार्थपरक कहानी है। ग़रीब, असहायों को रौशनी, ऊर्जा देने वाला सूरज न जाने कब निकलेगा। उसके इन्तज़ार में न जाने कितने भैराराम अंधेरी ज़िंदगी जी रहे हैं। ऐसी ज़िंदगी जिससे तो मौत भली थी। बाढ़, सूखे, प्राकृतिक व मानवीय सभी यातनाओं से लड़ता हुआ मानव किस प्रकार ईश्वर की याचना करता हुआ कब उससे लड़ते-लड़ते आस्तिकता से नास्तिकता की ओर मुड़ जाता है, स्वयं उसी को पता नहीं चलता। कहानी के निम्नलिखित कथन से इसका स्पष्ट आभास होता है-''मैं तब से अब तक भैराराम को देख रहा हूँ ...आदतन भगवान् का नाम

वह ले ले यह और बात है, पर अब उसे किसी भगवान्-वगवान् का भरोसा नहीं रहा।'' (पृष्ठ - 24)

'उस तरह' कहानी में मानव से मानवता को स्वयं मानव ने ही किस प्रकार अलग कर दिया है। यह उसके मानवीय कृत्यों पर आश्चर्य व्यक्त करने से ही पता चलता है। जैसलमेर के गाँव में घटित भीषण अग्निकाण्ड में नखतसिंह द्वारा अपनी जान की परवाह न कर बच्चों को बचाने के मानवतापूर्ण कार्य को अनोखा मानकर चटर्जी बाबू को नखतसिंह का साक्षात्कार लेने के लिए भेजा जाता है। गौरतलब है कि गावं के लोक जीवन शैली से रू-ब-रू कराना लेखक का उद्देश्य नहीं है बल्कि मानव से मानवता की उम्मीद न करना। इस बहुरूपिया दुनिया के वास्तविक रूप को उजागर करना कथाकार का उद्देश्य है। उस नखतसिंह का यह कहना कि-''यह सम्मान मुझे दे रहे हो तो इसका मतलब है, तुम आदमी से उस व्यवहार की उम्मीद नहीं रखते, जो मैंने किया। ...तुमसे कह रहे हैं एक कुँआ खुदवा दो सो तो होता नहीं।'' (पृष्ठ-37)

यह कैसी विडंबना है कि विकास के इस दौर में आम आदमी हाशिये पर खिसकता जा रहा है। तमाम आदर्शों और नैतिक मूल्यों के अर्थ बदल रहे हैं। बस एक आपाधापी है जल्दी से जल्दी ऊपर चढ़ने की, जहाँ अर्थ और दिखावे का साम्राज्य है। आज हम कैसे संवेदनहीन समय में जी रहे हैं, जहाँ रिश्ते-नातों और नैतिकता का कोई मतलब नहीं रह गया है। देखा जाए तो वास्तव में आज मनुष्य संवेदनहीन, भावनाविहीन हो गया है। वह सिर्फ मनोरंजक, कौतुक चीज़ें पसंद कर रहा है। किसी की ज़रूरत और भावनाओं की कोई क़द्र नहीं रह गई है।

'बिछुड़ने से पहले' में लेखक ने विकास के नाम पर गाँवों के ग्रामत्व को समाप्त किया जा रहा है। नगरीकरण, औद्योगिकीकरण, आदि के नाम पर ग्रामीण जन-जीवन को भरमाया और भटकाया जा रहा है। गाँव देहात की शुद्ध वायु के स्थान पर शहरी विषाक्त हवा बहती आ रही है। कहानीकार ने विकास के नाम पर होने वाले इस विनाश के बारे में अपनी चिंता व्यक्त करते हुए अत्यंत संकेतात्मक ढंग से लिखा है- ''एक दिन खेत ने पगडंडी से कहा- सुना तेरी जगह आठ किलोमीटर की सड़क बन रही है पक्की ?...यहाँ पे ट्रक-लॉरी दौड़ेंगे धूल उड़ाते, धुएँ के बादल छोड़ते तो तेरा क्या होगा ! झुलसे आलू जैसा नहीं हो जाएगा ? पगडंडी चिढ़ कर बोली।'' (पृष्ठ - 73)

यही निरीहता और लाचारी खेत और पगडंडी को भी है। पगडंडी की जगह चालीस फुट चौड़ी पक्की सड़क का बनना, पगडंडी का विस्थापन और उसका खेत से दूर होने के जरिये वैश्वीकरण के विकास की त्रासदी को दर्शाता है। एक छोटे से बदलाव पगडंडी की जगह पक्की सड़क बनने एवं इससे उपजे पगडंडी और खेत के बीच बिछुड़ने से पहले उपजे वार्तालाप को केंद्र में रखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कथाकार ने गाँव की आत्मा को आवाज़ दी है। तेजी से विकास करते शहरों की बढ़ती आवश्यकताओं मसलन बिजली, पानी और सड़क के लिए आज गाँव की ज़मीन का अधिग्रहण हो रहा है। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि गाँव की कीमत पर ही शहरों का विकास हो रहा है। प्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि-''पहले भारत का विकास दूसरे भारत के विनाश पर निर्भर है। पहले भारत की समृद्धि के लिए जब जंगलों, पहाड़ों और गाँवों में बड़े-बड़े बाँध बनाए जाते हैं तब पहले भारत में तो प्रकाश आता है लेकिन दूसरे भारत के जीवन में अंधकार छा जाता है।'' (कुशवाहा, सुभाषचंद्र, कथा में गाँव, संवाद प्रकाशन, मेरठ- 2006, भूमिका से)

किस प्रकार विकास के नाम पर हम अपनी जीवंतता, ताज़गी को ताक पर रख खोखले बनते जा रहे हैं, न तो यह बदलाव खेत के ही हित में है और न ही पगडंडी के। खेत और पगडंडी आपस में वार्तालाप करते हुए कहता है-''दिल को कौन पूछता है मितवा ! विकास तो होके रहेगा। पगडंडी ने उसाँस छोड़ी। दोनों चुपचाप रोने लगे।''(पृष्ठ - 76) पगडंडी का मिटता आस्तित्व मानव की कोमलता को सड़क में तब्दील करता जा रहा है जो निश्चय ही चिंता का विषय है।

'संधान' कहानी में गाँव में बसे एक छोटे से साधारण परिवार के विश्वमोहनजी एवं उनकी पत्नी व बच्चों की कहीं घूम आने की चाहत, उआकी पूर्ति व उसके बाद उस महानगरीय जीवन की संधान किस कदर उन्हें हीन भावना से भर देती है, तथा उन्हें स्थगित जीवन जीने पर मजबूर कर रहे थे उसे बयाँ करता है। उनका असली जीवन तो जैसे कहीं उनके महानगर के भ्रमण में खो सा गया था। लेखक के शब्दों में - ''विश्वमोहनजी का परिवार जब अपने शहर के स्टेशन पर उतरा तो जाने क्यों उन सबको यह लगा कि वे उतरे नहीं, गिर पड़े हैं। बल्कि पटक दिए गए हैं।'' (पृष्ठ - 88)

कहना उचित होगा कि वे अपने वर्तमान ग्रामीण जीवन से असंतुष्ट हो गए थे। जब तक कि उनके शहरी मित्र ने परिवार सहित गाँव पधारकर उन्हें ग्रामीण जीवन की जीवंतता, उल्लास, प्रफुल्लता से सराबोर न कर दिया, साथ ही ग्रामीण परिवेश को महानगर से कहीं ऊँचा स्थान दिया। विश्वमोहनजी का दोस्त ने लिखा था कि- ''उसका परिवार बाहर निकलना चाहता है। महानगर की एकरस-उबाऊ ज़िंदगी से वे तंग से आ गए हैं।'' (पृष्ठ-91)

एक दिन महानगर में रहकर वे वहाँ के असली रूप को देख पाएँ- यह बात उन्हें उनके मित्र के ग्रामीण आनंद में सराबोर होने पर महसूस हुआ। निश्चय ही स्वयं प्रकाश ने अंत में विश्वमोहनजी के परिवार के मन से ग्रामीण पिछड़ेपन के भावों को दूर कर गाँव की सादगी, मासूमियत को ससम्मान उसका उचित स्थान दिलाया है।

स्वयं प्रकाश की 'नैनसी का धूड़ा', क्या कहूँ, कुछ ऐसा जो कहना बड़ा अजीब सा लग रहा है। एक मनुष्य और पशु के जीवन में लेखक ने कब, कैसे समानता ढूँढ़ी, समझ से परे तो नहीं पर सच न हो ऐसी इच्छा जरुर होती है। नैनसिंह और उसका साँड नैनसी (धूड़ा) कैसे परिस्थिति वश एक ही नारकीय स्थिति को भोगते हुए दुःखद अंत को प्राप्त होते हैं, निश्चय ही चिंता का विषय है। इसका मूल क्या है, क्यों ये घटना घटित हुई, इसका निवारण क्या है या कैसे इससे बचा जा सकता है? कई प्रश्न मन को बेचैन कर देते हैं। क्या यह कोई पूर्व जनम के कर्मों का फल है जो स्वयं के कोई दोष न होते हुए प्राकृतिक व मानवीय यातनाओं को

झेलते हुए दोनों ही नारकीय पतन की ओर अग्रसर होते गए। कहानी की निम्न पंक्तियाँ इस तथ्य की साक्ष्य है-''रामनगर की कच्ची बस्ती से बाहर कूड़े के ढेर पर एक लाश मिली है। हालाँकि जीते-जी उसे किसी ने आदमी नहीं समझा हो, पर कहना तो यही पड़ेगा कि वह एक आदमी की लाश है।'' (पृष्ठ - 121)

'बलि' इस शब्द का प्रयोग करके ही कथाकार ने एक स्त्री के दु:खद और कारुणिक अंत को सार्थकता दी है। गाँव जो आधुनिक मशीनी ज़िंदगी से दूर शांतिमय जीवन जी रहा था, ऐसे में वहाँ बहुमूल्य धातु की खोज में आया शहरी जीवन, जिसने उस तथाकथित पिछड़े समाज को अपने उपभोग के लिए इस्तेमाल किया। बड़े घरों में काम करने की चाहत रखने वाली एक साधारण आदिवासी लड़की कब उस शहरी जीवन को आत्मसात कर लेती है और अपने पुराने जीवन से कितनी दूर चली जाती है। इसका भान उसे ही नहीं रहता। इसकी सज़ा तो तब उसे मिलती है जब वह अपने पुराने जीवन में लौटती है और खुद को असहाय, असुरक्षित महसूस करती है। यह उसकी नियति नहीं कही जा सकती। यदि उसने थोड़ी सी हिम्मत की होती तो कथा को संभवत: कुछ दूसरा रूप मिला होता। पर कथाकार ने यह सोचने पर हमें बाध्य किया है कि यदि हम अपनी जड़ों से अलग हो जाएँ तो शायद ही उस परिवेश में हम पुन: पनप सकेंगे, जी सकेंगे। कहानी की नायिका के आत्महत्या करने के पीछे उसका यही अलगाव था जो उसके समाज ने अस्वीकार कर दिया।

वहीं दूसरी ओर 'आयाचित' अपने लिए गए फ़ैसले को शायद सही न साबित कर पाने से उपजे डर की कहानी है। जहाँ प्रेम विवाह करने के कारण समाज-परिवार से तिरस्कृत एक स्त्री अपनी पुत्री के विवाह हेतु पारिवारिक संबंधों की खोज की ओर अग्रसर होती है, पर सवाल ये है कि ऐसा वो करती ही क्यों है। देखा जाय तो देशप्रेम करने वालों ने तो कभी तथाकथित समाज, परदेश, विश्व की परवाह नहीं की और उन्हें अपने कृत्य पर हमेशा अभिमान रहा है तो समाज में एक स्त्री पुरुष के प्रेम सम्बन्ध को इतना हीन क्यों समझा जाता है? बहरहाल एक मुँह बोले रिश्ते की तलाश कर लेने पर भी यह कमी पूरी नहीं होती। लड़की का अपने मुँहबोले मामा से कहना कि-''मान लो मैं घर से भाग भी जाती, या किसी लड़के को चाहने भी लगती और भागकर-छिपकर उससे शादी भी कर लेती तो क्या फ़र्क़ पड़ जाता ?.... क्या बुरा किया पापा ने ? क्या बुरा कर रहें हैं वे तमाम सामाजिक स्वीकृति को न्यौत कर ? जब मरना ही है तो आदमी वहीं क्यों न मरे जहाँ चार जने कंधा देने वाले मिल जाएँ।'' (पृष्ठ - 71)

जिस लड़की का विवाह है उसका अपने मामा से यह पूछना कि क्या वो भी किसी के साथ भाग जाएगी यह सोचकर ही उसके माँ-बाप उसकी शादी जल्दी कर रहे हैं, तो ऐसा करके वे अपने अतीत को ही ग़लत साबित कर रहे हैं।

इस प्रकार स्वयं प्रकाश का यह संग्रह अपने विविध रंगों के साथ ग्रामीण समाज की पूरी तस्वीर प्रस्तुत करता है, जिससे किसी न किसी तरह इस देश का हर नागरिक प्रभावित है। इन कहानियों में न बहुत बड़े विरोध का स्वर है और न बहुत बड़े सवाल। अगर विरोध और सवाल भी हैं तो उसी ग्रामीण समाज के आदमी के बीच के हैं जिसे बड़ी-बड़ी बातों से कोई फ़र्क़ नही पड़ता है, बल्कि फ़र्क़ पड़ता है तो अपनी सामान्य ज़िंदगी को सहजता से न जी पाने से। देश के आम आदमी की जो मूलभूत समस्याएँ होती हैं, उसके विकास में जिस तरह की बाधाएँ हैं, उन सभी के साथ स्वयं प्रकाश इन कहानियों में एकाकार होते हैं, और बेहद सरल शब्दों में अपनी अभिव्यक्ति रखते हैं। इनकी भाषा सरल, सहज होने के साथ-साथ अनावश्यक संश्लिष्टता का मोह त्याग, ताज़गी के अहसास से भरी हुई है। बिम्बों और प्रतीकों को कहीं भी डेकोरेटिव बनाने के प्रति न तो लेखक में कोई मोह है और न ही कोई दुराग्रह। यह कहानी संग्रह पाठकों द्वारा पढ़े जाने की माँग करता है और यही खूबी उन्हें अपने समकालीन कथाकारों में अलग पहचान दिलाती हैं।

❐❐❐

शोधार्थी - हिंदी विभाग, पश्चिम बंग राज्य विश्वविद्यालय, बारासात, कोलकाता- 700126

फार्म IV

समाचार पत्रों के अधिनियम 1956 की धारा 19-डी के अंतर्गत स्वामित्व व अन्य विवरण (देखें नियम 8)।

पत्रिका का नाम : शिवना साहित्यिकी

1. प्रकाशन का स्थान : पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मप्र, 466001

2. प्रकाशन की अवधि : त्रैमासिक

3. मुद्रक का नाम : जुबैर शेख़।

पता : शाइन प्रिंटर्स, प्लॉट नं. 7, बी-2, क्वालिटी परिक्रमा, इंदिरा प्रेस कॉम्प्लैक्स, ज़ोन 1, एमपी नगर, भोपाल, मप्र 462011

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

4. प्रकाशक का नाम : पंकज कुमार पुरोहित।

पता : पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मप्र, 466001

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

5. संपादक का नाम : पंकज सुबीर।

पता : रघुवर विला, सेंट एन्स स्कूल के सामने, चाणक्यपुरी, सीहोर, मप्र 466001

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

4. **उन व्यक्तियों के नाम / पते जो समाचार पत्र / पत्रिका के स्वामित्व में हैं। स्वामी का नाम :** पंकज कुमार पुरोहित। **पता :** रघुवर विला, सेंट एन्स स्कूल के सामने, चाणक्यपुरी, सीहोर, मप्र 466001

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

मैं, पंकज कुमार पुरोहित, घोषणा करता हूँ कि यहाँ दिए गए तथ्य मेरी संपूर्ण जानकारी और विश्वास के मुताबिक सत्य हैं।

दिनांक 20 मार्च 2018

हस्ताक्षर पंकज कुमार पुरोहित

(प्रकाशक के हस्ताक्षर)

शिवना प्रकाशन - नई पुस्तकें

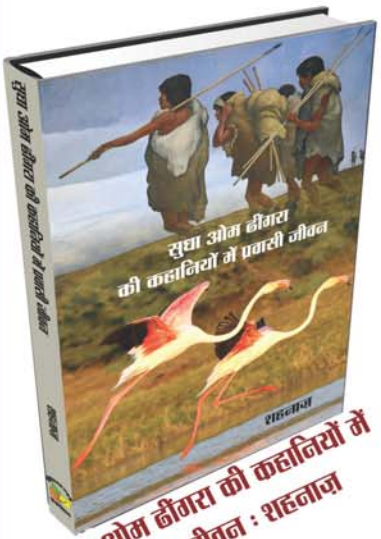

सुधा ओम ढींगरा की कहानियों में
प्रवासी जीवन : शहनाज़

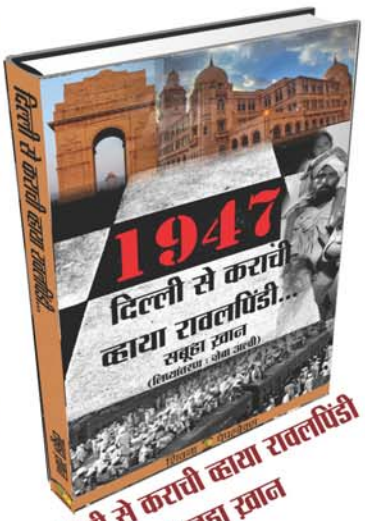

दिल्ली से कराची छाया रावलपिंडी
सबूहा ख़ान

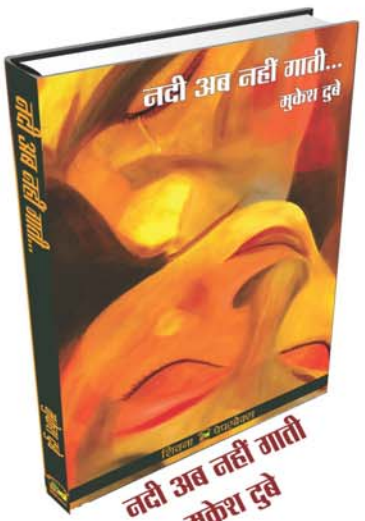

नदी अब नहीं माती
मुकेश दुबे

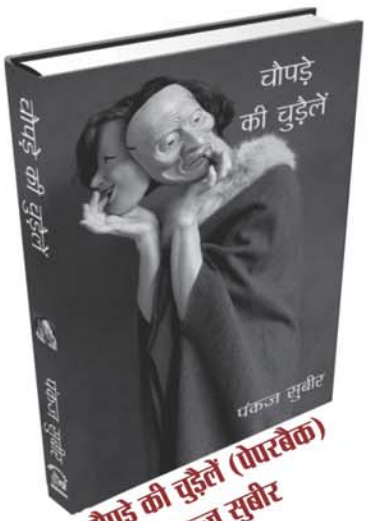

चौपड़े की चुड़ैलें (पेपरबैक)
पंकज सुबीर

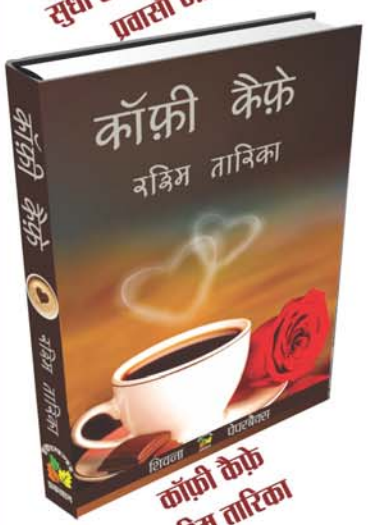

कॉफ़ी कैफ़े
रश्मि तारिका

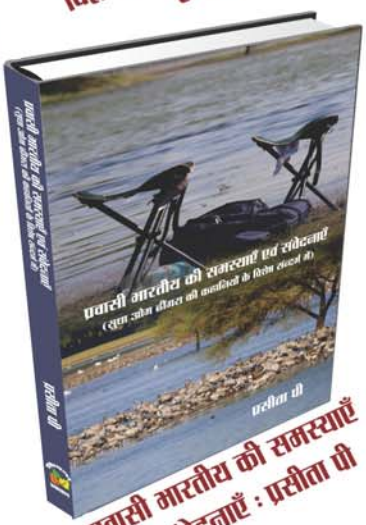

प्रवासी भारतीय की समस्याएँ
एवं संवेदनाएँ : प्रसीता पी

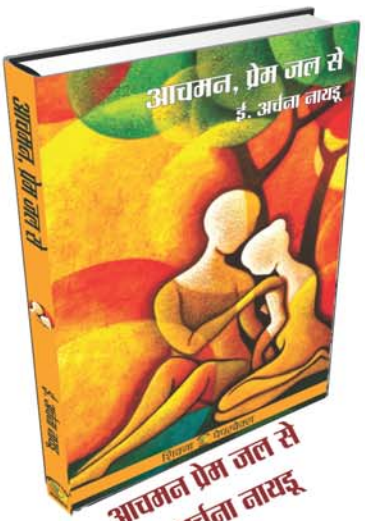

आचमन प्रेम जल से
ई. अर्चना नायडू

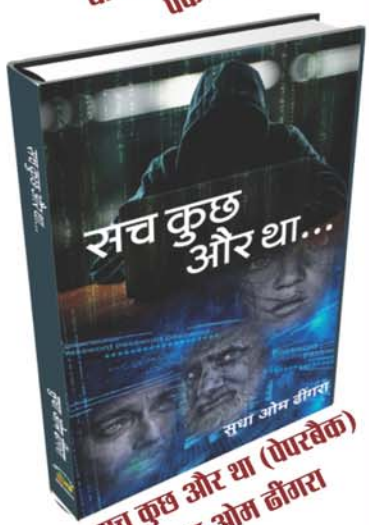

सच कुछ और था (पेपरबैक)
सुधा ओम ढींगरा

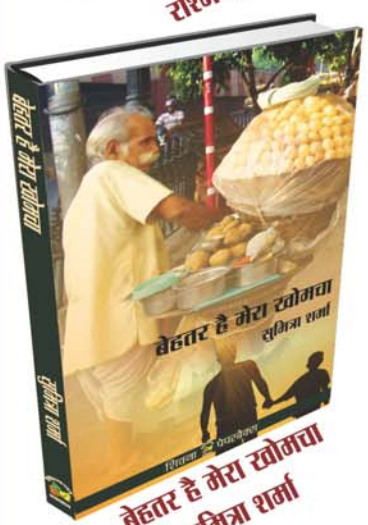

बेहतर है मेरा खोमचा
सुमित्रा शर्मा

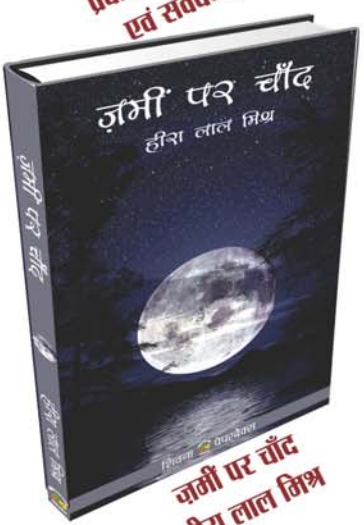

ज़मीं पर चाँद
हीरा लाल मिश्र

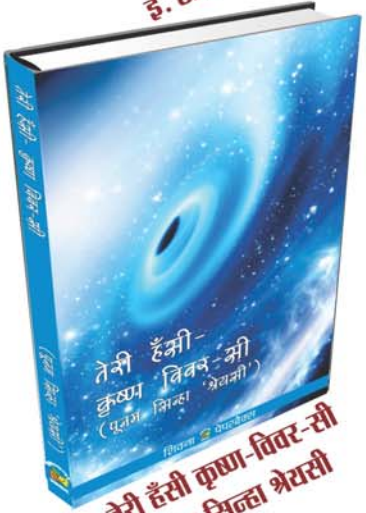

तेरी हँसी कृष्ण-विवर-सी
पूनम सिन्हा श्रेयसी

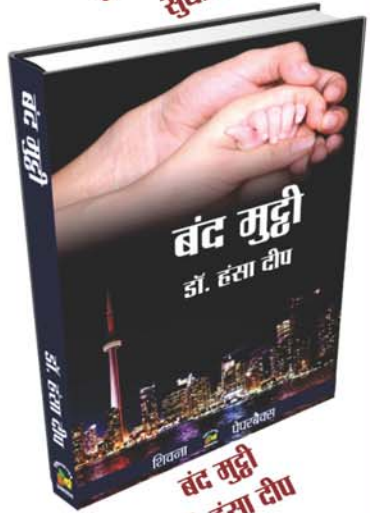

बंद मुट्ठी
डॉ. हंसा दीप

शिवना प्रकाशन
प्रकाशन

शिवना प्रकाशन, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट
कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने
सीहोर, मध्य प्रदेश 466001
फोन : 07562-405545, 07562-695918
मोबाइल : +91-9806162184 (शहरयार)
ईमेल : shivna.prakashan@gmail.com
http://shivnaprakashan.blogspot.in
https://www.facebook.com/shivna.prakashan

शिवना प्रकाशन
की पुस्तकें सभी प्रमुख
ऑनलाइन शॉपिंग
स्टोर्स पर

amazon
http://www.amazon.in
flipkart.com
http://www.flipkart.com
paytm
ebay
https://www.paytm.com
http://www.ebay.in

दिल्ली में पुस्तकें प्राप्त करें : हिन्दी बुक सेंटर, 4/5 आसफ अली रोड
फोन : 011-23286757 http://www.hindibook.com

शिवना प्रकाशन - नई पुस्तकें

शोध दृष्टि - सुधा ओम ढींगरा का साहित्य
(शोध-आलेख संग्रह)
बलबीर सिंह, प्रकाश चंद बैरवा

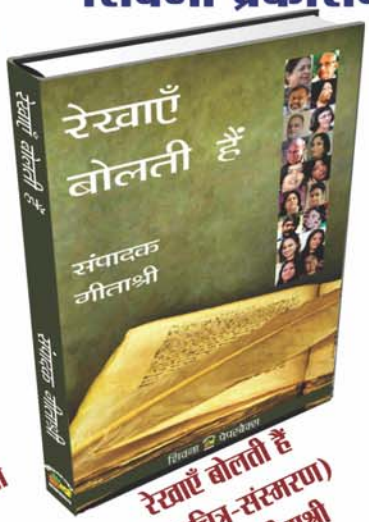

रेखाएँ बोलती हैं
(रेखाचित्र-संस्मरण)
संपादक गीताश्री

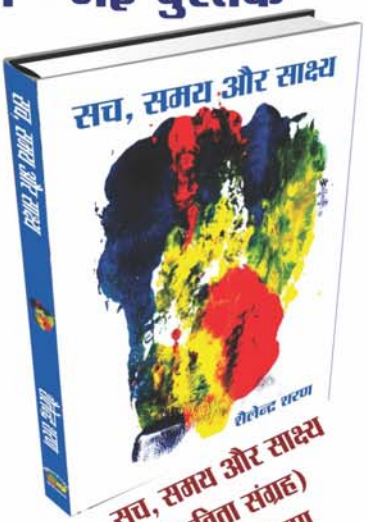

सच, समय और साक्ष्य
(कविता संग्रह)
शैलेन्द्र शरण

ख़ामोश आवाज़ें
(उर्दू कहानी संग्रह)
सैयद असद मेहदी

चारों ओर कुहासा है
(कविता संग्रह)
रघुवीर शर्मा

संकल्प और सपने
(लघुकथा संग्रह)
सदाशिव कौतुक

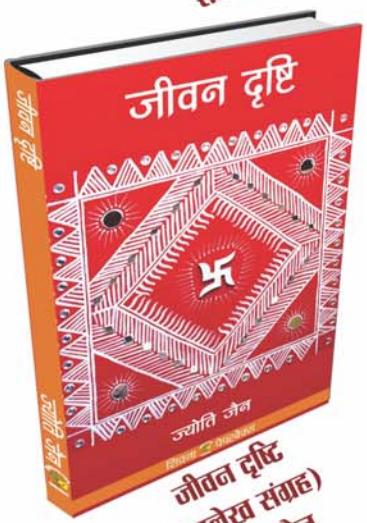

जीवन दृष्टि
(आलेख संग्रह)
ज्योति जैन

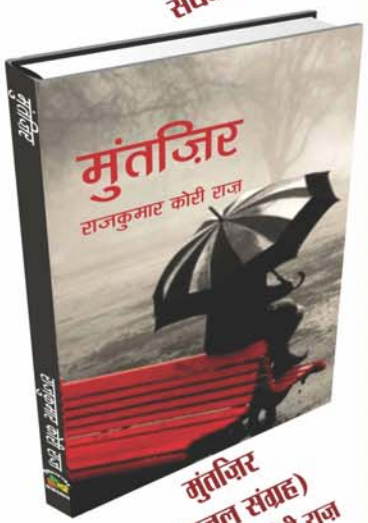

मुंतज़िर
(ग़ज़ल संग्रह)
राजकुमार कोरी राज़

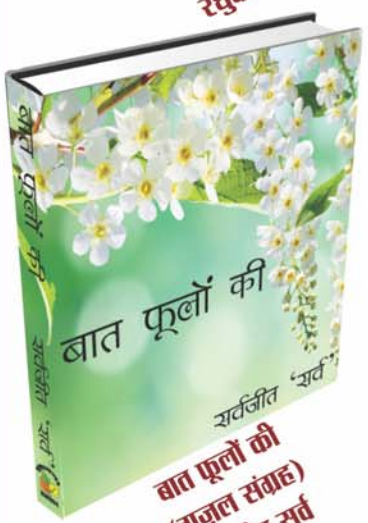

बात फूलों की
(ग़ज़ल संग्रह)
सर्वजीत सर्व

अभी तुम इश्क़ में हो...(पेपरबैक)
(ग़ज़ल संग्रह)
पंकज सुबीर

थोड़ी यादें, थोड़ी बातें, थोड़ा डर
(ग़ज़ल संग्रह)
शैलेन्द्र शरण

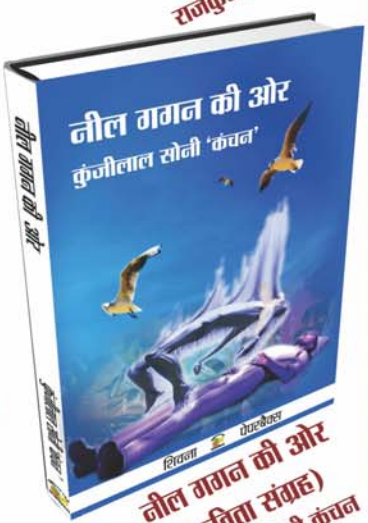

नील गगन की ओर
(कविता संग्रह)
कुंजीलाल सोनी कंचन

If Undelivered Please Return to :
P. C. Lab, Shop No. 3-4-5-6, Samrat Complex Basement, Opp. Bus Stand, Sehore, M.P. 466001
Phone 07562-405545, 07562-695918, Mobile 09584425995, 07828313926, 09806162184

स्वत्वधिकारी एवं प्रकाशक पंकज कुमार पुरोहित के लिए पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मध्य प्रदेश 466001 से प्रकाशित तथा मुद्रक ज़ुबैर शेख़ द्वारा शाइन प्रिंटर्स, प्लॉट नं. 7, बी-2, क्वालिटी परिक्रमा, इंदिरा प्रेस कॉम्प्लैक्स,ज़ोन 1, एम पी नगर, भोपाल, मध्य प्रदेश 462011 से मुद्रित।